ic Domain. Digitized by Sarayu Tru

अकिंचित्कर

एक अनुशीलन

?

पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

rni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकिंचित्कर : एक अनुशीलन

5172

लेखक
पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री

सम्पादक
पं. शीलचन्द शास्त्री, मवाना
डॉ. अशोक कुमार जैन, रुड़की
पं. केशवदेव जैन, कानपुर

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन मन्दिर,
भदैनी, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम संस्करण– ५,००० मई, १९९०

मूल्य– ६ रुपये मात्र

मुद्रक : राजेश्वरी फोटोसेटर्स (प्रा.) लि.,
२/१२, पंजाबी बाग, नई दिल्ली–२६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

जैन समाज की वर्तमान स्थिति में जैनधर्म के कतिपय सिद्धान्तों के काफी विवादास्पद बनाया जा रहा है। जिसमें अन्य विषयों के साथ संसार बन्धन में "मिथ्यात्व" की क्या भूमिका है ? यह सर्वाधिक चर्चित है। विगत आठ वर्षों से तो इस प्रकरण की काफी चर्चा चल रही है।

प्रस्तुत विषय की इस गम्भीरता को देखते हुए निरन्तर यह आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि इस विषय पर एक आगम परक शोधात्मक प्रामाणिक कार्य प्रकाश में आना चाहिए, ताकि जैनधर्म के प्रदर्शित सिद्धान्त सुदृढ रह सके। इस विषय पर पं. फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री ने पुस्तक लिखी है, वह बहुत ही प्रासंगिक व युगानुकूल है। हमें अपने संस्थान से यह पुस्तक प्रकाशित करते हुए अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। हम संस्था की तरफ से उनके कृतज्ञ हैं। साथ ही इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन लोगों ने प्रत्यक्ष परोक्ष सहयोग दिया है उनके भी हम बहुत आभारी हैं। इस पुस्तक के माध्यम से लोग अपना मार्ग प्रशस्त करेगें इस भावना के साथ।

निवेदक

डॉ. अशोक जैन

अध्यक्ष, अशोक प्रकाशन मन्दिर, भदैनी,
वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"इतिवृत्त
कुछ इस तरह से"

वर्तमान में कुछ एक अध्येताओं द्वारा ज्ञान के मौलिक चिन्तनात्मक अनुशीलन की धुन सी सवार हो गयी है, शायद। इसी कारण, न जाने क्या सोचा गया, और फिर, जैनागम की पूर्वापर एक प्रतिष्ठित आचार्य परम्परा के मूलभूत हार्द पर तीखा असह्य कुठाराघात हो ही गया। इस रूप में कि –" संसार बन्धन में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है। पहले जिनवाणी माँ ने कराह भरी" प्रवचन पारिजात के रूप में और दूसरी बार सिसकी "अकिंचित्कर के रुप में——। विद्वतगण ने सिसकी सुनी और अनेकों लेखादि के रूप में विगत 6-7 वर्षों से मलहम-पट्टी चलती रही–। तब कहीं विकल्पों की कली "फूल बनी, जिसने जिनवाणी माँ का स्थायी उपचार किया, जो आपके समक्ष प्रस्तुत है। एक जिज्ञासापूर्ण पूर्वाग्रहमुक्त तुलनात्मक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए लिखी गयी यह पुस्तक आपके सद्विचारों का पथ प्रशस्त करने में पूर्णतः सक्षम होगी। ऐसा मैं इस पुस्तक को पढ़कर अनुभव कर रहा हूँ। पुस्तक रूप इस मंजिल पर आने तक का मार्ग अपना एक रोचक मार्मिक इतिहास समेटे हुए है। जिसकी प्रस्तुति का मोह संवरण शायद ही कर सकूं।

बात उस समय की है, जब धवला ग्रन्थाधिराज की प्रथम वांचना शिविर "सागर" में थी। वांचना के दौरान वयोवृद्ध/ज्ञानवृद्ध सर्वमान्य विद्वान श्री फूलचन्द जी सिद्धान्त-शास्त्री के समक्ष, इसी सदी के एक आचार्य द्वारा दृढ़ता से कही गयी यह चर्चा प्रकाश में आयी कि "मिथ्यात्व, आस्रव व बन्ध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है। जिस पर पं. श्री फूलचन्द जी ने पूर्वापर विचारते हुए समुचित समाधान दिया था। परन्तु आचार्य श्री की मान्यता अडिग रही, और परस्पर में थोड़ा तनाव भी हुआ। परिस्थिति को देखते हुए पंडित जी सा. तो वांचना को छोडकर सागर से बनारस चले गये। कालान्तर में पुनः अगले वर्ष जबलपुर में वांचना हुयी। वाँचना के मध्य ही वातावरण सागर जैसा हो गया। बारम्बार आचार्य श्री यही कहते कि मिथ्यात्व को बन्ध का कारण मानने पर आठ जगह बाधा आती है। एक बार तो मान्यवर पं. श्री जवाहरलाल जी भिण्डरवाले प्रत्युत्तर में आचार्य श्री से यह निवेदन भी किया कि, आठ जगह जो बाधा आती है, वह तो ठीक ही है, परन्तु नौवीं जगह आप बाधा उपस्थित नहीं करियेगा। आठ जगह जो विशेष बात है, उसका समाधान आचार्यों ने दिया ही है। श्रद्धेय पंडित श्री फूलचन्द जी सा. ने तो दो बार भरी सभा में यहाँ तक कहा कि "आप लोगों को यदि गृहस्थ विद्वानों की मानना हो तो मानों, और इन महाराजों की मानना हो तो उनकी मानो, मुझे चाहे कितना ही भी प्रताडित करो, फिर भी मेरे मुख से तो किसी भी तरह आगम विरुद्ध नहीं बुलवा सकते हो, पुनः कहा कि जो सत्तर कोडा-कोडी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बन्ध करे, वह तो बन्ध के लिए अकिंचित्कर है, और जो चालीस कोडा-कोडी का बन्ध करे, वह बन्ध के लिए सब कुछ हो, यह आगम हीन तथ्य भला कैसे मान्य हो सकता है ?"

तदुपरान्त अगली तीसरी बार की वाँचना पुनः सागर में हुयी, जिसमें आचार्य श्री के निर्देश पर पंडित जी सा. निमन्त्रित नहीं हुए। परिणामस्वरूप वाँचना सिर्फ बांची ही गयी, अर्थ नही खोला गया था। कारण स्पष्ट था, उसके मर्मवेत्ता वहां उपस्थित नहीं थे। इस तरह से तीन वर्ष व्यतीत हो गये, और प्रवचन-पारिजात के लेखक की ये आगम विरूद्ध बातें जनसामान्य में विवादास्पद हुयीं। देश के लगभग सभी विद्वानों ने इस पर अपने विचार और शोधात्मक लेख प्रस्तुत किये। इस विषय पर सर्वप्रथम लेख बाल ब्र. पं. श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, ललितपुर वालों ने लिखा था। जो जैन सन्देश अंक ३० जून, सन् ८२ पृष्ठ ५ पर प्रकाशित हुआ था। इस लेख में पं. श्री फूलचन्द जी, पं. श्री कैलाशचन्द्र जी बनारस, पं. श्री जगनमोहन लाल जी कटनी, पं. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर, आदि जैसे दिग्गज विद्वानों से इस विषय पर अपने विचार देने के लिये, अत्यन्त आग्रहपूर्ण निवेदन किया था। प्रतिक्रिया रूप में पं. श्री कैलाशचन्द्र जी बनारस ने इसी लेख की "सम्पादकीय नोट" में लिखा था कि "गुरुजनों से (प्रवचन पारिजात के लेखक) प्रार्थना है कि वे अपनी भूल स्वीकार करके आगमश्रद्धा का परिचय देवें। फिर तो इसके बाद इस विषय पर लेखों का सिलसिला ही चल पड़ा। अधिकांश जैन पत्रों में अकिंचित्कर मान्यता के विपक्ष में लिखा जाने लगा। पं. श्री कैलाशचन्द्र जी बनारस वाले ने जैन सन्देश २३ दिसम्बर सन् ८२ के अंक में "मिथ्यात्व ही अनन्त संसार का बन्धक" के सम्पादकीय लेख में यह लिखा कि "समस्त प्राचीन जैनाचार्यों के विचार में यह तर्क नहीं आया जो आज प्रथम बार एकमात्र आचार्यविद्यासागर के विचार में आया है। क्या वे सब आगम रचयिता आचार्य आगम की गहराई में नही उतरे ?"

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में जैन साधु को "आगम चक्खू साहू" अर्थात् आगम रूप चक्षु वाले कहा है, जब एक जैनाचार्य के लिये अनिवार्य आवश्यक आगमिक ज्ञान ही विवादास्पद हो गया, तो उनकी तरफ से जैन सन्देश १८ नवम्बर ८२ के अंक प्रथम पृष्ठ पर ही "मिथ्यात्व की बन्ध विषयक भूमिका पर एक आवश्यक स्पष्टीकरण पं. श्री जगनमोहन लाल शास्त्री जी की लेखनी में दिया। तथा विद्वानों से यह आग्रह भी किया गया कि अब इस चर्चा को यहीं समाप्त करें।"

पंडित श्री जगनमोहनलाल जी शास्त्री के उक्त स्पष्टीकरण के उपरान्त जब विद्वानों ने व्यक्तिगत चर्चा/वार्ता आचार्य श्री से की, तो उनका मन्तव्य पूर्ववत् ही पाया उनमें कोई संशोधन नहीं था। तदुपरान्त जब चौथी वाँचना जबलपुर में हुयी तो, पुरानी चर्चा में फिर चेतना आयी। तब पुनः आमन्त्रित विद्वान श्री फूलचन्द जी साहब बनारस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वालों ने उपस्थित लोगों से निवेदन किया कि यदि शान्त भाव से आचार्य श्री समझना चाहते हैं, तो मैं उत्तर दूंगा, अन्यथा नहीं। अनेक विद्वानों के अत्यन्त आग्रह पर पं. श्री फूलचन्द जी ने कहा कि आचार्य श्री व मेरे अलावा अन्य कोई भी नहीं बोलेगा। यह सभी के द्वारा मान्य होने पर भी ब्र. राकेश जी व उनके कुछ सहयोगियों द्वारा इन नियमों की गौरव-गरिमा नहीं रखी जा सकी। तदुपरान्त थोडे से व्यवधान के पश्चात् पुनः चर्चा आगे बढाते हुए श्रद्धेय श्री फूलचन्द जी साहब ने श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य से कहा कि मैं भूल जाता हूँ। अतः आचार्य श्री के जो प्रश्न हैं, वे आप लिख लें। अतः पं. श्री पन्नालाल जी ने वे प्रश्न लिखे और पं. श्री जगनमोहन लाल जी, कैलाश चन्द्र जी बनारस, श्री मुन्नालाल जी, आदि ने बैठकर उनके प्रश्न आगमों में से निकाले। पं. श्री फूलचन्द जी बोलते गये और पं. श्री पन्नालाल जी लिखते गये। दो दिनों बाद वे उत्तर लिखित रूप में उस समय के ब्र. दिनेश कुमार जी सहारनपुर वालों के हाथों आचार्य श्री के निवास स्थान पर प्रस्तुत किये गये। आचार्य श्री ने उन उत्तरों को पढ़कर अत्यन्त आवेश में उन जैनागमों के पृष्ठों को फेंकते हुए कहा कि ये भी क्या कोई उत्तर है ?

इस अकाल्पनिक प्रसंग को देखकर ब्र. श्री दिनेशकुमार जी बहुत क्षुब्ध हुए और इस व्यवहार को विद्वानों के समक्ष कह दिया। दूसरे दिन मान्यवर श्री जवाहरलाल जी भिण्डरवाले पधारे, तो संघस्थ मुनिराजों ने उनसे वही प्रश्न पूछे, तो पं. श्री ने उत्तर दिया कि अभी तक सभी आचार्य एवं सभी विद्वान मिथ्यात्व को बन्ध का कारण एक मत से स्वीकृत करते आये हैं, तथा जो आगम की बात को नहीं मानता वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है। इस बात के सुनने पर आचार्य श्री ने पं. श्री जवाहरलाल जी द्वारा की जाने वाली वांचना से असहमति व्यक्त की। तब पं. श्री पन्नालाल जी ने वांचना प्रारम्भ की, तो फिर आचार्य श्री ने पधारना प्रारम्भ किया।

धवला ग्रन्थाधिराज की जबलपुर में आयोजित वांचना के दौरान ही यहां के एक संभ्रान्त व्यक्ति व एक ब्रह्मचारिणी वेन जब पं. श्री जगनमोहनलाल जी से उनके कमरे में चर्चा करने गयी। चर्चा के दौरान वे बहुत क्षुब्ध होकर बोले कि मैंने महाराज को बहुत समझाया, और कहा भी कि, ये मत छापो, समाज में विरोध होगा। परन्तु आचार्य श्री बोले कि मेरा १० वर्ष का चिन्तन है, मै भी आचार्य हूं, मैं तो लिखना चाहूंगा। तब पंडित जी बोले कि अब वो विद्यासागर नहीं रहे, जो पहले थे, अब तो हठीले हो गये हैं, मैं क्या करूं ?

आचार्य श्री के इस विषय पर दिये गये प्रवचनों को "प्रवचनपारिजात व अकिंचित्कर" पुस्तक द्वय के रूप में प्रकाशित किया गया। इन दोनों पुस्तकों का गम्भीर स्वाध्यायी, प्रबुद्ध वर्ग, द्वारा तीव्र विरोध किया गया। लेखकों में आचार्य श्रुतसागर जी महाराज के प्रमुख शिष्य वीरसागर महाराज, पं. श्री नरेन्द्र कुमार जी शास्त्री सोलापुर, स्व. पं. श्री कैलाश चन्द्र जी बनारस, पं. श्री गम्भीरचन्द्र जी वैद्य अलीगंज,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं. श्री मुन्नालाल जी प्रभाकर, पं. श्री रतनलाल जी कटारिया, केकडी, पं. श्री पदमचन्द्र जी शास्त्री, सम्पादक अनेकान्त, दिल्ली, प्रकाशचन्द्र जी हितैषी, सम्पादक सन्मति सन्देश दिल्ली, डॉ. सुदर्शन लाल जी, पं. श्री बाबूलाल जी जैन कलकत्ता वाले दिल्ली, पं. श्री नेमचन्द जी जैन वकील सहारनपुर, पं. श्री प्यारेलाल बडजात्या अजमेर, पं. श्री सुजानमल जी गदिया अजमेर, पं. श्री बारेलाल जी, पं. श्री भुवनेन्द्र कुमार जी "बादरी" वाले सागर, आदि ने जैन सन्देश, सन्मति सन्देश, अनेकान्त आदि में विरोध रूप में आगमिक आधार से लेख लिखे थे। दूसरी तरफ जैन गजट, जैन सन्देश में कुछ लेख डॉ. श्री रतनचन्द्र जी भोपाल के भी आचार्य श्री की मान्यता के समर्थन में प्रकाशित हुए थें। तथा जैन गजट में पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर का भी आचार्य श्री की मान्यता के विरूद्ध जैन गजट के दिस., ८६ में लेख प्रकाशित हुआ था। इसके साथ ही स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित पुस्तकाकार रूप में "डॉ. योगेश चन्द्र जैन द्वारा भी" जैन दर्शन में बन्ध-मोक्ष लघुशोध प्रबन्ध में भी पर्याप्त सन्तोषप्रद लिखा गया है, जो कि पठनीय है। "अकिंचित्कर" के प्रकाशन के पश्चात्, अत्यन्त विशद रूप से सभी प्रश्नों का समाधान होना भी अत्यावश्यक था। अतः श्रद्धेय फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री से इस विषय पर लिखने का आग्रह किया गया। क्योंकि वे ही इस विषय के एक मात्र अधिकारी विद्वान हैं। उनसे यह कार्य कराने के लिये पन्द्रह दिन हस्तिनापुर रुका भी परन्तु कार्य तीव्र गति से नहीं हो पाया। जब कालान्तर में कई प्रतिष्ठित विद्वानों व स्वाध्याय प्रेमियों द्वारा अत्यधिक आग्रह पूर्वक शीघ्र पुस्तक लिखने को निवेदन किया, तब कहीं यह पुस्तक मूर्त रूप ले सकी है।

जैन तत्वमीमांसा की प्रस्तावना में, तथा अन्य स्थलों पर भी आदरणीय व्रती विद्वान श्री जगनमोहनलाल जी शास्त्री ने लिखा है कि, पंडितों का यह कर्तव्य है कि अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, आजीविका आदि की चिन्ता न करते हुए सत् का उद्घाटन करें। अतः पंडित जी ने भी वस्तुतः अपने इस कर्तव्य को साकार ही किया है। पुस्तक को लिखकर जो उन्होंने सम्पूर्ण जैन समाज पर उपकार किया है, उसका यह समाज चिर ऋणी रहेगा।

अकिंचित्कर के प्रारम्भ में "पुरानी चर्चा पर नये सन्दर्भ" पर जो यह लिखा गया है कि "क्या सम्यग्दर्शन जो कि मोक्ष का कारण है, किसी प्रकृति के आस्रव या बन्ध का भी कारण हो सकता है ? पहला यदि हां होता है तो वह मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता है? कारण, जो बन्ध का हेतु वह वह उससे विपरीत कार्य मोक्ष का हेतु नही हो सकता, अन्यथा, शीतल एवं उष्ण परस्पर विरूद्ध धर्मों के अवस्थान का आधार एक धर्मी होना चाहिये ? लेकिन ऐसा सम्भव नही है। दूसरा यदि कहो कि सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का ही हेतु है, बन्ध का नहीं, तो उससे विलक्षण जो मिथ्यात्व वह भी मात्र संसार का हेतु (विपरीताभिनिवेश जनक) है, बन्ध का नही। कारण, बन्ध रूप कार्य उससे भिन्न है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर :—कारण, कारण है कार्य नहीं, और कार्य, कार्य है कारण नहीं।

इस प्रकार की भिन्नता तो हमें इष्ट ही है, लेकिन बन्ध रूप कार्य कभी कारण के बिना नहीं होता है। "कारणेण बिना कज्जुप्पत्ति विरोहादो" (ध. ७, पृ. ७०) कारणानुविधाईकार्याणि कारण का अनुसरण करके कार्य होता है। जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। मिथ्यात्व (विपरीताभिनिवेश) मात्र संसार का हेतु है, तो संसार किसका नाम है ? तथा कारण बिना का संसार है क्या ? उस संसार का क्या स्वरूप है ? क्या वह चर्तुगति कारण रूप बन्ध से संसार पृथक है ? इन सारे प्रश्नों के उत्तर बहुत स्पष्टता से प्रस्तुत पुस्तक में दिये गये हैं। वस्तुतः बन्ध में मिथ्यात्व "अकिंचित्कर हैं" इन शब्दों का प्रयोग ही आगम में कहीं नहीं किया गया है। यह तो २१वीं सदी की ओर अग्रसर आचार्यों की कपोल-कल्पना मात्र है। यह भले ही लिखा गया हो कि, आचार्य श्री को अन्य स्वतन्त्र मान्यता की स्थापना नहीं करनी है लेकिन अकिंचित्कर पुस्तक का कथन तो जैन सिद्धान्त व मान्य सभी आचार्यों/विद्वानों से विरूद्ध व अतर्कसंगत होने पर स्वयमेव अलग से स्वतन्त्र मान्यता स्थापित होती हुयी गृहीत मिथ्यात्व का आधार-स्तम्भ बन गयी है। जिसका बहुत सरलता से खण्डन प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है। अतः समस्त साधर्मी जन विषय की स्पष्टता का लाभ लेकर आगमानुसार अपना कल्याण करेंगे, तभी इस पुस्तक की सार्थकता होगी। प्रस्तुत पुस्तक में पंण्डित श्री फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री ने इस वृद्धावस्था में भी कठोर परिश्रम करके जो जिनवाणी की महती सेवा की है उसके लिए प्रबुद्ध वर्ग चिरऋणी व कृतज्ञ रहेगा। आद. पण्डित जी साहब स्वास्थ्य लाभ लेते हुए दीर्घजीवी हों। तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष की विद्वत समाज की तरफ से हम सब आपके समक्ष नतमस्तक होते हुए इस महत्वपूर्ण पुस्तक हेतु अभिनन्दन करते हैं।

विनीत

पं. शीलचन्द्र शास्त्री

मवाना (हस्तिनापुर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

यह तो हम जानते हैं कि गुण स्वयं पर्याय रूप नहीं होता, तथा जो द्रव्य है वह भी स्वयं पर्याय रूप नहीं होता। परन्तु द्रव्य और गुण के बिना पर्याय नहीं होती यह भी सत्य है। द्रव्य की पर्याय को व्यंजन पर्याय कहते हैं। और गुण की पर्याय को अर्थ पर्याय कहते हैं। ऐसे ही जिस द्रव्य में जो शक्ति होती है, उसके अनुसार ही उसकी पर्याय होती है उसमें प्रत्येक समय होने वाली पर्याय रूप शक्ति न हो और पर्याय हो जाये ऐसा नहीं है उस-उस समय की शक्ति भिन्न-भिन्न है उसके अनुसार पर्याय होती है। आप्त मीमांसा में कहा भी है –

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्तिः पाक्यापाक्य शक्तिवत्।
सघनादिः लसो र्व्यक्तिः स्वभावोऽ तर्क गोचरः ॥

प्रत्येक द्रव्य में और खास करके जीव द्रव्य में शुद्धि और अशुद्धि नाम की दो शक्तियां होती है, जिनकी व्यक्ति एक शक्ति की सादि रूप से होती है और एक शक्ति की व्यक्ति अनादि रूप से होती है।

जीव पुद्‌गल रूप से क्यों नहीं परिणमता, यदि यह पूछा जाये तो कहना होगा कि उसमें पुदगल रूप से परिणमने की शक्ति ही नहीं है। उसी प्रकार सब द्रव्यों की शक्ति और व्यक्ति जाननी चाहिए।

उसी प्रकार जीव में भी सुख शक्ति है उसके सद्‌भाव में सुख की व्यक्ति होती है। किन्तु पर के संयोग से शक्ति विभाव रूप से परिणमती है और जैसे-२ पर का संयोग दूर होता जाता है वह क्रम से स्वभाव रूप से होना प्रारम्भ हो जाती। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन ये दो पर्यायों में श्रद्धा गुण कारण है। स्वभाव रूप पर्याय सम्यग्दर्शन है और विभाव रूप पर्याय मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन पर्याय श्रद्धा गुण की है। वह स्वभाव पर्याय है क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के अभाव में वह चौथे गुणस्थान में प्रकट हो जाती है।

स्वानुभूति कहो या आत्मानुभूति कहो वह चौथे गुणस्थान में ही उत्पन्न हो जाती है। सराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है। यह सम्यग्दर्शन का ज्ञापक निमित्त है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है। उसके व्यवहार में फर्क पड़ जाता है। वह स्वयं स्वभाव से मोक्षमार्ग के अनुरूप प्रवृत्ति करने लगता है। वह ऐसे वचन नहीं बोलता है जो पर को कष्टदायक लगे। ऐसी चेष्टा करता है जो स्वभाव से मोक्षमार्ग के अनुकूल होती है।

इन दोनों के लक्षण भिन्न है। सम्यग्दर्शन का लक्षण है मिथ्यात्व आदि पाँच या सात के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होने वाला वस्तु की स्वभाव रूप पर्याय। तथा सराग सम्यग्दर्शन का लक्षण है प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव का एक साथ होना। सम्यग्दर्शन रूप स्वभाव पर्याय होती है तो उसके प्रशमादिभाव हीनाधिक रूप से प्रकट हो जाते हैं।

यद्यपि मिथ्यादृष्टि के भी ये प्रशमादि भाव पाये जाते हैं यह सच है पर सम्यक् दृष्टि के ये भाव अवश्य ही होते हैं। इसमें इतना फर्क है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके बाद विविध अनुयोगों के द्वारा मिथ्यात्व की चर्चा करके अकिंचित्कर पुस्तक में जो कथन किया गया है उसको सम्बन्ध बनाकर जैन धर्म की मान्यता के अनुसार अनेकान्त की दृष्टि में रखकर इसमें (इस पुस्तक में) कथन किया गया है।

जैसे अकिंचित्कर पुस्तक में स्थूल ऋजुसूत्रनय के अनुसार कर्मबंध के कारण कषाय और योग कहे गये हैं। उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से मिथ्यात्व आदि पाँचों को बन्ध का कारण कहा है। यहाँ द्रव्यार्थिक तीनों नयों में वर्तमान पर्याय गर्भित है, क्योंकि द्रव्यर्थिक नयों में अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों का भी समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है, इसीलिए नैगम नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो भेद किये गए हैं।

अकिंचित्कर पु. में मिथ्यात्व भाव परिणामात्मक होने से मात्र भाव रूप है उसमें क्रियात्मकता न होने से वह आस्त्रव और बन्ध का निमित्त नहीं होता, यह कहा गया है। यदि ऐसा है तो मिथ्यात्व को बन्ध कारणों में नहीं गिनाया जाना था। सब आचार्य तो उसे बन्ध का कारण माने और अकिंचित्कर पुस्तक कहे कि वह आस्त्रव और बंध नहीं करता। क्या उसका यह कथन सिद्धान्त विरूद्ध नहीं हैं ? कषाय और योग को क्रिया करने वाला अकिं. पु. में कहा जाय और मिथ्यात्व को क्रिया में निमित्त न कहा जाय, यह बड़ी विचित्र बात है। जबकि मिथ्यात्व में गुणस्थान मिथ्यात्व भी क्रिया का निमित्त है, अन्यथा कषाय भी क्रिया का निमित्त न होने से वह आस्त्रव और बन्ध का कारण कैसे बनेगी ? अर्थात् नहीं बन सकेगी। क्रिया का निमित्त तो योग है। देखो ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक कषाय के अभाव में भी क्रिया होती है, इसीलिये मिथ्यात्व के समान कषाय भी क्रिया का निमित्त नहीं बन सकेगी। अतः अकिं. पु. के अनुसार कषाय भी भावात्मक होने से वह भी आस्त्रव और बन्ध का कारण नहीं बन सकेगी, इसलिये यह मान लेना चाहिये कि जिस गुणस्थान में जो निमित्त होते हैं, वे सब मिलकर आस्त्रव और बन्ध के कारण हैं। इसीलिये इनमें परस्पर की निमित्तता बन कर वे सब मिलकर आस्त्रव और बन्ध के कारण है और प्रत्येक भी आस्त्रव और बन्ध के कारण है यह सिद्ध होता है।

दूसरी बात इस पुस्तक में यह स्पष्ट की गई है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से मिथ्यात्व आदि पाँचों भाव बन्ध के कारण हैं और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय से योग और कषाय ये दोनों बन्ध के कारण हैं, जो कर्मबन्ध होता है उसमें पाँचों ही द्रव्यार्थिक नय से कारण बन जाते हैं और पर्यायार्थिक नय से कषाय और योग से दो ही कर्म बन्ध के कारण ठहरते हैं। ऐसा वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार का मंतव्य है। तथा शब्दादि तीन नयों से यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मबंध कैसे हुआ, इसलिये इन नयों से अवक्तव्य कहा जाता है।

अकिंचित्कर पुस्तक में अन्य जो अवान्तर विषय आये हैं उन पर अपनी दृष्टि से शीर्षक देकर विचार किया गया है। एक बात अवश्य है कि सब स्थानों पर जो बन्ध के दो भेद किये गये हैं, उनमें से तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ८ का प्रथम और दूसरा सूत्र है उसमें से प्रथम सूत्र द्रव्य-भाव दोनों प्रकार से प्रत्ययों का कथन करने वाला सूत्र है, ऐसा दोनों टीकाओं में स्वीकार किया गया है। यहाँ मुख्य रूप से तात्पर्यवृत्ति टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का मुख्य भाग उद्धृत कर रहे हैं : "मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य सण्ण-संण्णा दु। सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृत लक्षणबलात् आकारलोपो द्रष्टव्यः। मिथ्यात्वविरतप्रमाद कषाययोगः कथंभूताः, भाव प्रत्यय द्रव्यप्रत्यय रूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतना चेतनाः तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो-त्तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणां भवति। कथंभूतः? एते बहुविह भेदा जीवे। उत्तर-प्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे अधिकरणभूते। पुनरपि कथंभूताः ! तस्सेव अणण्णपरिणामाः, अभिन्नपरिणामाः, तस्यैव जीवस्याशुद्ध निश्चय-नयेनेति गां. १७२-१७३ की जयसेनाचार्य कृत टीका (पृ. १४७)।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप बंध के कारण हैं वे भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें से भाव प्रत्यय चेतन स्वरूप व द्रव्य प्रत्यय जड़ स्वरूप है, और इन द्रव्य प्रत्ययों का भी कारण राग, द्वेष आदि भावों का करने वाला संसारी जीव होता है। ये कैसी हैं ? आधारभूत जीव में वे संज्ञायें उत्तर भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। जो कि अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से उस जीव के परिणाम स्वरूप उससे अभिन्न होते हैं।

अकिंचित्कर पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है :-"मिथ्यात्व अधिकरण है। जैसे द्रव्य, गुण और पर्यायों का आधार होता है। इसी प्रसंग को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व को अकिंचित्कर कहा गया है। उसी प्रसंग में मिथ्यात्व मात्र अधिकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यानि मिथ्यात्व के उदय में करण अर्थात् अनंतानुबंधी अपनी शक्ति के द्वारा कर्त्ता बन कर इस बन्ध रूप कार्य को करने वाली होती है।"

(१) इस पर विचार करने से अनेक आपत्तियां खड़ी होती है। अनंतानुबंधी विसंयोजित के सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आने पर एक आवलि काल तक अनंतानुबंधी का बन्ध तो होता है पर उदय नहीं। वहां अनंतानुबंधी ही स्वयं के आस्त्रव और बन्ध का कारण है क्या ?

(२) दूसरे : मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन १६ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व के कारण कहा है वह बन्ध अकेला अनंतानुबंधी के कारण बन जायेगा क्या ? यदि हां तो इसमें सिद्धान्त विरोध क्यों नही आता ? क्योंकि आगम तो कहता है कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व के कारण होता है। तब अनन्तानुबंधी कर्त्ता और करण कारक कैसे बनेगा ?

(३) जैसे यथासम्भव सब प्रकृतियों के बन्ध के लिए अनन्तानुबंधी करण और कर्ता बन जाती है। वैसे ही १६ प्रकृतियों के बन्ध के लिए मिथ्यात्व भी कर्ता और करण कारक क्यों नहीं बन सकता, वह अधिकरण कारक ही क्यों रहा आता है। अधिकरण कारक हो और कर्त्ता और करण कारक न हो इनमें विरोध है क्या ? यदि हां तो इसका खुलासा आगम के अनुसार होना चाहिए।

अकिंचित्कर पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि मिथ्यात्व परिणामात्मक होने से भाव रूप है यदि ऐसा है तो हम कहते हैं कि कषाय भी परिणामात्मक होने से उसे मात्र भावरूप माना जाये तो क्या आपत्ति है। यदि कहा जाये कि द्रव्यार्थिक चार नयों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से वह बन्ध का कारण है तो बन्ध के कारणों से मिथ्यात्व को कैसे अलग किया जा सकता है ? क्योंकि वह भी द्रव्यार्थिक आदि चार नयों से बन्ध का कारण है। यदि कहा जाये कि ऋजुसूत्र नय से वह (मिथ्यात्व) कैसे बन्ध का कारण है ? तो हम कहेंगे कि द्रव्यार्थिक नयों में तीनों काल लिये गये हैं। उसमें स्थूल ऋजुसूत्रनय गर्भित है। अन्यथा ऋजुसूत्रनय में स्थूल शब्द नहीं लगाना था।

अकिं. पुस्तक ५८ पेज पर लिखा है "कि इसे यदि संक्षेप में कहा जाये तो अन्तरंग भाव प्रत्यय के द्वारा बहिरंग में द्रव्य प्रत्ययों का निमित्त पाकर बन्ध रूप नैमितिक कार्य सम्पन्न होता है" आगे द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध इस शीर्षक के अन्तर्गत "योग, यानि क्रियावती शक्ति व मिथ्यादर्शन यानि भाववति शक्ति " - यह लिखा है और उसमें लिखा है कि भाववति शक्ति द्वारा कोई क्रिया उत्पन्न नहीं हुआ करती, उसके द्वारा तो मात्र विपरीत परिणाम की उत्पत्ति होती है। अतः मिथ्यात्व को भाववति शक्ति कहना युक्त है।

पृ. ६१ पर लिखा कि कषाय को भी क्रियावति शक्ति में शामिल किया जा सकता है। कारण कि उसका ही प्रभाव/सम्बन्ध योग पर सर्वाधिक पड़ता है।"

हम देखते हैं कि इस सम्बन्ध में जितनी भी बातें लिखी हैं वे सब मिथ्यात्व बन्ध में अकिंचित्कर है यह सिद्ध करने का दृढ़तर प्रयत्न मात्र है।

मिथ्यात्व परिणामात्मक होने पर भी भाव रूप भी है और कर्म बन्ध में प्रयोजक भी है, और कषाय भी परिणामात्मक होने से भाव रूप भी है और कर्म बन्ध में कारण भी है। जैसे मिथ्यात्व है उसी प्रकार कषाय भी है।

उसे हम एक शब्द में कह सकते हैं कि मिथ्यात्व है इसीलिये कषाय की स्थिति बनती है। देखो मिथ्यात्व के सद्भाव में ही कषाय कर्म को बांध सकती है, मिथ्यात्व के अभाव में वह ढीली पड़कर क्रमशः अभाव को प्राप्त हो जाती है।

भाव प्रत्यय और द्रव्यप्रत्यय साथ-साथ होते हैं। जहाँ द्रव्य प्रत्यय है उसके उदय से भाव प्रत्यय होता है और भाव प्रत्यय से द्रव्य प्रत्यय होता है, यह परम्परा अनादि की है। इसीलिये आठवें अध्याय के प्रथम और द्वितीय सूत्र द्रव्यार्थिकनय और पर्यायर्थिक नयों की मुख्यता से क्रमशः निबद्ध किये गये हैं। पहला सूत्र द्रव्य प्रत्यय की प्ररूपणा करने वाला हो और दूसरा सूत्र भाव प्रत्यय की परूपणा करने वाला हो ऐसा नहीं है। जैसे वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में कथन का जो क्रम स्वीकार किया गया है वही तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में पहले और दूसरे सूत्र की रचना में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार अन्य विषय भी जानना चाहिए। इस विषय में कई भाईयों का सहयोग मिला है उसमें मुख्य हैं प्रकाशचन्द जी हितैषी और श्री पद्‌भचन्द जी आदि। इसी प्रकार जिन भाईयों और बहनों ने इसमें सहयोग किया है उन सबका मैं अत्यन्त आभारी हूं। शेष शुभ।

पं. फूलचन्द सिद्धान्त शास्त्री, वर्तमान में हस्तिनापुर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
	मंगलाचरण	१
१.	सुख और उसके साधन।	२
२.	परमार्थ सुख का लक्षण।	४
३.	तीन प्रश्न और उनका समाधान।	८
४.	मिथ्यात्व का स्वरूप।	११
५.	मिथ्यात्व की प्राप्ति किस कारण से होती है ?	१२
६.	मिथ्यात्व की स्वामी कौन ?	१२
७.	मिथ्यात्व का अधिकरण क्या ?	१२
८.	मिथ्यात्व के भेद कितने हैं ?	१३
९.	मिथ्यात्व का काल।	१३
१०.	बन्ध का स्वरूप और उसके कारण।	१४
११.	संसार का मूल कारण मिथ्यात्व विषयक उद्धरण।	१६
१२.	ऋजुसूत्र नय से विचार।	१७
१३.	पर्यायार्थिक नय की सिद्धि कैसे होती हैं ? उसका एक प्रकार।	१६
१४.	कर्मबन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को क्यों लिया गया ?	२०
१५.	कर्मबन्ध के हेतुओं में कर्ता का विचार।	२१
१६.	द्रव्य कर्म बन्ध में मिथ्यात्व करण और अधिकरण कारक भी है।	२३
१७.	तत्वार्थ सूत्र के विवक्षित दो सूत्र।	२५
१८.	नयों की अपेक्षा कार्य-कारण भाव।	२६
१९.	चार प्रकार के बन्ध और उनके उभय नयों से कारण का विचार।	२७
२०.	आप्त परीक्षा का कथन।	२८
२१.	आगम में नयों का कथन।	३१
२२.	मिथ्यात्व, कषाय के होने में निमित्त है।	३२
२३.	वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार के आधार पर विशेष विचार।	३५
२४.	तदनुबन्धिनों का अर्थ।	३८
२५.	मिथ्यात्व भी स्थिति और अनुभाग बन्ध में निमित है।	४१
२६.	इस सम्बन्ध के दूसरे प्रश्न और उनका समाधान।	४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
२७. बन्ध में मिथ्यात्व की विशेषता है अनन्तानुबंधी की नहीं। ४६
२८. स्व-परोदयबन्धी प्रकृतियों की परिभाषा। ४६
२९. बन्धापसरण का अर्थ। ५३
३०. विसंयोजना ५४
३१. मिथ्यात्व भावात्मक भी है और बन्धक भी ५६
३२. नयों की विवक्षा में सामान्य विशेष प्रत्यय ५६
३३. पुनः लक्ष्य का प्रतिपादन ६३
३४. द्रव्यार्थिकनय का मुख्य विषय ६८
३५. अनंतानुबंधी चार सम्यग्दर्शन की कैसे चोर है? ६८
३६. विपरीताभिनिवेश का आशय ७०
३७. रात्रि भोजन और महाव्रती साधु ७२
३८. सब प्रत्यय निमित्त मात्र हैं कोई सामान्य नहीं और न कोई विशेष ७३
३९. अन्वय-व्यतिरेक की अपेक्षा विचार ७६
४०. अनुदय का अर्थ ईषत् उदय नहीं है ७८
४१. एक बात और। ८१
४२. संयोजना के बाद की स्थिति ८१
४३. अध्यात्म में उल्लेख मात्र ८३
४४. सराग सम्यग्दर्शन किसके होता है ८५
४५. स्व॰मान्य पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, साढूमल ८७
४६. मान्य पं. जवाहरलाल जी सि. शा. भिण्डर ८७
४७. मान्य पं. भुवनेन्द्र कुमार जी शास्त्री बांदरी (सागर) ९०
४८. स्व. मान्य पं. कैलासचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री बनारस ९०
४९. मान्य पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी ९१
५०. पं. कैलाशचन्द जी शास्त्री ललितपुर ९२
५१. ब्र. प्यारेलाल जी सहारनपुर ९२
५२. मान्य पं. पदमचन्द जी शास्त्री संपादक अनेकान्त दिल्ली ९२
५३. श्री प्यारेलाल जी बडजात्या ९४
५४. आचार्य वीरसागर जी के शिष्य मुनि श्रुतसागर जी ९४
५५. चूलिका ९४
५६. उपसंहार १०७
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी।
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ।। १ ।।

आचार्य कहै हैं जो मैं अरहंत परमेष्ठी कूं वंदिकरि चारित्रपाहुड हैं ताहि कहूँगा कैसे हैं अरहंत परमेष्ठी—अरहंत ऐसा प्राकृत अक्षर अपेक्षा तौ ऐसा अर्थ—अकार आदि अक्षर करि तौ "अरि" 'ऐसा तौ मोहकर्म' बहुरि रकार आदि अक्षर अपेक्षा 'रज' ऐसा ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म बहुरि तिस ही रकारकरि 'रहस्य' ऐसा अंतराय कर्म ऐसे च्यार घातिकर्म तिनिकू हननां घातनां जाकै भया ऐसा अरहंत है। बहुरि संस्कृत अपेक्षा "अर्ह" ऐसा पूजा अर्थ विषैं धातु है ताका "अर्हत्" ऐसा निपज्जै तब पूजा योग्य होय ताकूं अर्हत् कहिये सो भव्यजीवनिकरि पूज्य है। बहुरि परमेष्ठी कहने तैं परम कहिये 'उत्कृष्ट' इष्ट कहिये 'पूज्य' होय सो परमेष्ठी कहिये। अथवा परम जो उत्कृष्ट पद ता विषैं तिष्ठै ऐसा होय सो परमेष्ठी। ऐसा इन्द्रादि करि पूज्य अरहंत परमेष्ठी हैं। बहुरि कैसे हैं सर्वज्ञ, सर्व लोकालोक स्वरुप चराचर पदार्थनिकूं प्रत्यक्ष जानैं सो सर्वज्ञ हैं। बहुरि कैसे हैं—निर्मोह मोहनीय नामा कर्म की प्रधान प्रकृति मिथ्यात्व है ताकरि रहित हैं। बहुरि कैसे हैं—वीतराग हैं विशेषकर जाकै राग दूर भया होय सो वीतराग, सो जिनकै चारित्र मोहकर्म का उदयतैं होय ऐसा रागद्वेष भी नांही है। बहुरि कैसे हैं—त्रिजगद्वंद्य हैं, तीन जगत के प्राणी तथा तिनिके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती तिनिकरि वंदिवे योग्य हैं. ऐसें अरहंत पदकूं विशेष्य करि अन्य पद विशेषण करि अर्थ किया है। बहुरि सर्वज्ञ पदकूं विशेष्यकरि अन्य पद विशेषण है। करिये ऐसैं भी अर्थ होय है तहाँ अरहंत भव्यजीवनिकरि पूज्य हैं ऐसा विशेषण होय है[२]।

---

१. चा. पा. गा. १।

२. श्री पं. जयचन्दजी छाबड़ा का अनुवाद।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. सुख और उसके साधन

किसी अन्य जड़ वस्तु में परमार्थ से और असदभूत व्यवहारनय से भी सुख नहीं पाया जाता और न ही अन्य चेतन और जड़ वस्तु परमार्थ से सुख का साधन बन सकती है। सुख आत्मा का स्वभाव है[३]। वह मोह और क्षोभ के अभाव में उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में अंशतः सुख की प्रगटता हो जाती है. क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा जानता है कि—

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूं नहीं होसी काहे होत अधीरा रे ॥[४]

वह जानता है कि जब जो होना है वह नियम से होगा ही, इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव अंशतः परमार्थ से आकुलित नहीं होता, इसलिये उसके अंशतः परमार्थ सुख मानने में कोई बाधा नहीं आती। उसके इन्द्रिय सुखों में सुखबुद्धि दृष्टि की अपेक्षा से नहीं होती।

नियमसार गा. १४ में ज्ञान और दर्शन की स्वभाव और विभाव पर्यायों के उल्लेख करने के बाद उनके लक्षण बतलाते हुए वहाँ लिखा है—

पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो[५] ॥ १४ ॥

उसका अर्थ है कि पर्यायें दो प्रकार की हैं-एक स्व-पर सापेक्ष पर्याय और दूसरी निरपेक्ष पर्याय।

यहाँ स्वभाव पर्याय को जो निरपेक्ष कहा है, उससे ज्ञात होता है कि वह अपने काल में स्वयं ही होती है। उपादान, जो कार्य के अव्यवहित पूर्व समय में ही होता है, उसका व्यय होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिये कार्य उपादान से होता है यह भी परमार्थ से नहीं बनता, क्योंकि यह सद्भूत व्यवहारनय से सद्भूत कारण पूर्वक होता है यह कथन भी सद्भूत व्यवहार का है।

कर्म का उदय आदि जीव को परिणमाता है यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि स्वयं परिणमन नहीं करते हुए जीव को कर्म परिणमाता है या परिणमन करते हुए जीव को कर्म परिणमाता है, यो दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं[६] ?

पहले प्रश्न को स्वीकार करने पर तो यह आपत्ति आती है कि जो स्वयं न परिणमे उसे अन्य कैसे परिणमा सकता है ? क्योंकि जीव में यदि परिणमन रूप शक्ति नहीं है तो अन्य द्वारा उसमें कैसे उत्पन्न की जा सकती है ? कहा भी है—न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते[७]।

---

३. स.प्रा. सर्ववि. अधिकार ५वें नं. अनाकुलत्व लक्षणा सुखशक्तिः। स. प्रा. गा. ७१ इह किल स्वभावमात्रं वस्तु।

४. अध्यात्म पद संग्रह पृष्ठ ८१।

५. नि. सा. गा. १४।

६. स. प्रा. गा. ११६-११७ आ. ख्या. टी.।

७. वही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे प्रश्न को स्वीकार करने पर भी यह आपत्ति आती है कि जब स्वयं जीव परिणमन करने रूप शक्ति से युक्त है तो उसे अपने परिणमन में अन्य की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है ! कहा भी है –

"नहि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते"[८] ॥ ११७ ॥ आत्मख्याति टीका

इन आगम प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि जिस द्रव्य में जो शक्ति होती है वह स्वयं ही अपना कार्य करने में समर्थ होती है। जीव और उससे भिन्न अन्य जड़ द्रव्यों में स्वयं जब परिणमन करने की शक्ति है तो वह अपने काल में स्वयं ही परिणमनशील मानी गई है।

यहाँ शंका होती है कि यह कथन स्वभाव पर्याय में तो बन जायेगा, विभाव प[र्या]य में कैसे बनेगा ? क्योंकि उसे असद्भूत व्यवहार से स्व पर सापेक्ष माना गया है ?

समाधान यह है कि नय दो प्रकार के हैं–एक निश्चयनय और दूसरा–व्यवहारनय। निश्चयनय से देखा जाय तो जिस समय जो भी पर्यायरूप कार्य उत्पन्न होता है वह स्वयं अपनी सामर्थ्य से ही उत्पन्न होता है। वह आगे-पीछे हो ऐसा नहीं बनता, क्योंकि निश्चय, शक्ति के आश्रित अर्थात् स्वाश्रित होता है। उस पर यह व्यवहार लागू नहीं पड़ता कि वह अपने परिणमन आदि कार्य में पर की अपेक्षा करे। जैसे अकेला स्फटिक मणि परिणाम स्वभाव होने पर तथा अकेला होने पर भी स्वयं शुद्ध स्वभाव रूप से परिणमता है। अकेला होने पर वह लालरूप से नहीं परिणमता, किन्तु जब उसका सम्पर्क लाल वस्तु से होता है, तब वह लाल रूप से भी परिणमन करने लगता है और जब उसका सम्पर्क काली वस्तु से होता है तब वह काले रूप से परिणमन करने लगता है[९]। इसी प्रकार अकेला ज्ञानी जीव भी स्वयं रागादि भावरूप से नहीं परिणमता, किन्तु रागादि दोषों के कारण वह जीव रागी आदि रूप में किया जाता है।

इससे हम जानते हैं कि "पराश्रितो व्यवहारनयः"[१०] इस नियम के अनुसार निमित्त का सम्पर्क होने पर जीव भी संयोग सिद्ध सम्बन्ध[११] वश जब तक अज्ञान भाव के कारण आत्मा और क्रोधादि भावों में भेद नहीं करता, तब तक अज्ञानी हुआ द्रव्यकर्मों से बंधता रहता है। इसलिये विभाव पर्याय का कारण स्वयं में होकरभी पर का सम्पर्क सिद्ध होता है। इस प्रकार जब पर में असद्भूत व्यवहारनय से कारणताबन जाती है, तो उससे जीव में कारणता बनने में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि पर के निमित्त से कारणता सिद्ध होने पर जिसमें यह कारणता कही गई है, वह वस्तु भी स्वयं कारण रूप से सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि जीव और पुद्गल की विभाव परिणति में "स्व" और "पर" की निमित्तता को आगम स्वीकार करता है। स्वभाव परिणति को नहीं, क्योंकि वह अपने परिणाम स्वभाव के कारण होती है।

---

८. स. प्रा. गा. ११६।
९. स. प्रा. गा. २७०-२७६, आ. ख्या. टी.।
१०. आ. ख्या. टी. स. प्रा. गा. २७२।
११. आ. ख्या. टी., स. प्रा. गा. ६९-७०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

२. परमार्थ सुख का लक्षण

अभी हम परमार्थ सुख की सिद्धि कर आये हैं, इसलिये यह प्रश्न होता है कि परमार्थ सुख क्या है ? समाधान यह है कि समयप्राभृत में परमार्थ सुख का लक्षण करते हुए उसके परिशिष्ट अधिकार में जो ४७ शक्तियों का विवेचन किया गया उनमें एक "सुख" नाम की शक्ति है। उसका लक्षण करते हुए वहाँ लिखा है –

अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः जिसका लक्षण अनाकुलता है उसका नाम सुखशक्ति है[१२]। वह सम्यग्दृष्टि से अंशतः प्रारम्भ होकर अरहंतों और सिद्धों में पूर्णता को प्राप्त होती है। अविरत सम्यग्दृष्टियों के दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी चार का उपशम या क्षय हो जाने से तथा वेदक सम्यग्दृष्टियों के सम्यक् प्रकृति के उदय रहने पर ही शेष ६ कर्मों का उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम हो जाने से अंशतः परमार्थ सुख के होने में कोई बाधा नहीं आती।

यदि कहा जाय कि सम्यग्दृष्टि जीव के शेष कषायों और यथासंभव नो कषायों का उदय और उदीरणा रहने से आकुलता देखी जाती है, इसलिये चौथे गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक परमार्थ सुख के मानने में बाधा आती है ? समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान का उदय हो जाने से वह बुद्धिरूपी छैनी द्वारा राग, द्वेष और मोह के उदय से स्वभावभूत आत्मा को प्रथक् कर लेता है। जो पर्यायबुद्धि अज्ञानी के होती है या रहती है, वह ज्ञानी के नहीं रहती और न होती है। वह जानता है कि मेरा आत्मा अनादि-अनन्त है, वह विशद ज्योतिस्वरूप है, अतएव वह निरन्तर उदयस्वरुप ही है। ऐसा तो मैं हूं। जो कर्मबंध होता है वह आत्मा मेरे में अर्थात् ज्ञायकस्वरूप में नहीं होता, क्योंकि राग-द्वेष की व्याप्ति पर्याय के साथ है, स्वभावभूत आत्मा के साथ नहीं। स्वभाव की अपेक्षा से तो मैं शुद्ध ही हूं अर्थात् कर्मों के उदय-उदीरणा रूप पर्याय रूप आत्मा से मैं भिन्न हूं। लोक में जो नव पदार्थ दिखाई देते हैं उनसे मैं सर्वथा भिन्न हूं। इसी बात को समयप्राभृत के मोक्ष अधिकार में स्वीकार करते हुए कहा है –

कह तो घिप्पइ अप्पा पण्णाए तो उघिप्पऐ अप्पा।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घेत्तव्वो ॥ २६६ ॥

वह शुद्ध आत्मा कैसे ग्रहण किया जाता है ? वह शुद्ध आत्मा प्रज्ञा से ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा शुद्ध आत्मा को विभक्त किया है वैसे ही उसके (प्रज्ञा) द्वारा उसे (शुद्ध आत्मा को) ग्रहण करना चाहिए ॥ २६६ ॥

यह है भेदविज्ञान की कला। भेदविज्ञान ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा पर्याय स्वरूप समल आत्मा से स्वभावभूत शुद्ध आत्मा को भिन्न किया जाता है। उसके द्वारा भीतर देखने पर राग-द्वेष स्वरूप आत्मा नहीं दिखाई देता, ज्ञानदर्शन स्वरूप

---

१२. आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये। छहढाला, अ.-३-१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभावभूत आत्मा ही दिखाई देता है। इसलिये आचार्यों ने ऐसी प्रज्ञा को ही पैनी छैनी की उपमा दी है। जैसे पैनी छैनी के द्वारा किसी लकड़ी को फाड़कर दो रूप कर दिया जाता है, वैसे ही संसार में पर्यायस्वरूप आत्मा से स्वभावभूत आत्मा को भिन्न कर उसका ही सम्यग्दृष्टि आत्मा अनुभव करता है। इसी अभिप्राय से ज्ञानी आत्मा का लक्षण करते हुए समयप्राभृत में कर्ता-कर्म अधिकार के अन्तर्गत कहा है –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।। ७५ ।।

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता, किन्तु जानता है वह ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि है।

यह कर्ता-कर्म अधिकार है, इसलिये उस दृष्टि से यहाँ विवेचन किया गया है। वस्तुतः मोह और रागद्वेष ही बन्ध के कर्ता होते हैं। सम्यग्दृष्टि तो मोह (मिथ्यात्व) से रहित होता ही है। उसके अनन्तानुबंधी का उदय भी न रहने से वह सम्यग्दृष्टि हुआ है, तथा उसके अर्थात् पर्यायभूत आत्मा के अप्रत्याख्यानावरण आदि १२ कषायों का और यथासंभव नव नोकषायों का उदय उदीरणा अभी विद्यमान है, पर वह अपने उपयोग में उन कर्मों के उदय-उदीरणा को नहीं अनुभवता, अपने ज्ञान-दर्शन स्वभावी आत्मा को ही अनुभवता है, इसीलिये यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्म और नोकर्म का बन्धक नहीं होता, क्योंकि कर्म और नोकर्म के बंध की व्याप्ति मिथ्यात्व और रागद्वेष के साथ है, वह ज्ञान-दर्शनस्वरूप स्वभावभूत आत्मा के साथ नहीं, अतः वह स्वभावभूत आत्मा जब रागद्वेष का कर्ता ही नहीं होता तो उसके कर्म और नोकर्म के बन्ध की संभावना कैसे बन सकती है ?

शंका :–सम्यग्दृष्टिआत्मा अपने उपयोग के द्वारा बन्धस्वरूप रागद्वेष को विषय नहीं करता तो न करे, पर्याय में तो वे हैं ही और पर्याय से सम्यग्दृष्टि आत्मा सर्वथा भिन्न नहीं हुआ है, इसलिये उसके बन्धस्वरूप रागद्वेष के निमित्त से होनेवाले पुद्गल बन्ध का कैसे निषेध किया जाता है ?

समाधान :–आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षण हैं। आत्मा का लक्षण उपयोग स्वभाव है और बन्ध का लक्षण राग-द्वेषरूप कर्म के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप संबंध है। अज्ञानी जीव उसे ही तथा उसके उदयादि से हुए भावों को अपना स्वरूप (लक्षण) समझता है। इस प्रकार इन दोनों में लक्षण भेद होने से वे यद्यपि एक जैसे प्रतिभासित होते हैं, पर उनमें लक्षण भेदरूप सूक्ष्म सन्धि तो है ही। उस सन्धि को जानकर उस सन्धि में उपयोग रूपी पैनी छैनी डालने से वे पृथक-पृथक हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा भिन्न पड़ जाता है और ऐसे आत्मा से रागद्वेषरूप बन्ध भी भिन्न पड़ जाता है[१३]।

---

१३. स. प्रा. गा. १४ आत्मख्याति टी. (यथा यथास्त्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका अभिप्राय यह है कि बन्ध और बन्ध के कारणों से ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा भिन्न अनुभव में आने लगता है। इसी को स. प्र. के मोक्षाधिकार में कहा है —

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २६४ ॥

जीव तथा बन्ध नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने नियत लक्षणों से) छेदे जाते हैं, प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा छेदे जाने पर वे नानात्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् पृथक्-पृथक् अनुभव में आने लगते ॥ २६४ ॥

इसकी आत्मख्याति टीका में लिखा है —आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासम्भवात्, भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। "तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते, ततः प्रज्ञयै-वात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम्।"

आत्मा और बन्ध के द्विधा करने रूप कार्य में कर्ता जो आत्मा उसके करणसम्बन्धी मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चय नय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती-प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप उपयोगात्मक बुद्धि ही) (छेदनात्मक) (छेदने के स्वभाव वाला) करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को (अलग-अलग भेद को) प्राप्त होते हैं, इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध को द्विधा किया जाता है। इसका आशय है कि उपयोगस्वरूप बुद्धि के द्वारा आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न जानना ही उनमें भेद करना है, ऐसा करने से (उपयोग द्वारा स्वभावभूत आत्मा की भावना करने से) बन्धनस्वरूप राग-द्वेष स्वयं आत्मा से पृथक् पड़ जाते हैं। इसी का नाम भेद विज्ञान है। यह कला जिसने अर्जित कर ली, उसे ही सम्यग्दृष्टि कहते हैं। ऐसा होना ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी[१४] पर पैर रखना है। इस विवेचन से हम जानते हैं कि कर्ता, करण और अधिकरण स्वयं में ही वास्तव में बनते हैं। परमार्थ से कोई किसी का कर्ता नहीं होता और करण तथा अधिकरण भी नहीं होता। व्यवहारनयसे मैं कर्मों से बंधा हूं —ऐसी कल्पना लौकिक जन ही करते हैं, ज्ञानीजन नहीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि में आकाश द्रव्य को विवक्षित कर कहा भी है[१५] —

शंका :—यदि धर्मादिक द्रव्यों का लोकाकाश आधार है तो आकाश का कौन आधार है ?

समाधान :—आकाश का अन्य आधार नहीं है; क्योंकि आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

शंका :— यदि आकाश स्वप्रतिष्ठित है तो धर्मादिक द्रव्य भी स्वप्रतिष्ठित होने चाहिए। यदि धर्मादिक द्रव्यों का अन्य आधार माना जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार मानना चाहिए। और ऐसा मानने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है ?

---

१४. मोक्ष महल की प्रथम सीढी या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहें सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा॥ छहढाला

१५. उक्तानां धर्मादीनां...शरीरे हस्तादय" इति —स. सि. ५/१२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य द्रव्य नहीं है, जहाँ आकाश स्थित हो यह कहा जाय। वह सबसे अनन्त है, परन्तु धर्मादिक द्रव्यों का आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनय की अपेक्षा कहा जाता है। एवंभूतनय की अपेक्षा तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठित ही हैं। कहा भी जाता है कि "आप कहाँ रहते हो ? अपने में"। धर्मादिक द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं हैं, यहाँ आधार-आधेय कल्पना से इतना ही फलितार्थ लिया गया है।

शंका :—लोक में जो पूर्वोत्तर काल भावी होते हैं उन्हीं का आधार-आधेय भाव देखा गया है। जैसे कि बेरों का आधार कुण्ड होता है उसी प्रकार आकाश पूर्वकालभावी हो और धर्मादिक द्रव्य पीछे से उत्पन्न हुए हों, ऐसा तो है नहीं, अतः व्यवहारनय की अपेक्षा भी आधार-आधेय कल्पना नहीं बनती ?

समाधान :— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एकसाथ होने वाले पदार्थों में आधार-आधेय भाव देखा जाता है। यथा-घट में रूपादिक हैं और शरीर में हस्त आदि हैं।

इस प्रकार स्वयं एक वस्तु में कर्ता-कर्म की सिद्धि हो जाने पर जैसे निश्चयनय से एक वस्तु में छहों कारक बन जाते हैं[१६] वैसे ही असद्भूत व्यवहारनय से भी छहों कारक दो द्रव्यों की पर्यायों में घटित किये जा सकते हैं, मात्र कार्य के समय अन्य द्रव्य में पर्याय की व्यवहार से अनुकूलता होना चाहिए।

इस प्रकार इतना विवेचन करने के बाद अकिंचित्कर पुस्तक को माध्यम बनाकर विवेचन किया जाता है; क्योंकि उसमें कर्मबन्ध के प्रति मिथ्यात्व को अकिंचित्कर सिद्ध किया गया है। जब कि बन्ध के कारणों का विवेचन करते समय समयप्राभृत और तत्वार्थसूत्र तथा उनकी टीकाओं में द्रव्यकर्म बन्धनों के कारणों में मिथ्यात्व को प्रमुख स्थान दिया गया है। अकिंचित्कर पुस्तक में मिथ्यात्व को आधार (अधिकरण) कारक तो माना गया है पर उसे कर्ताकारक और करणकारक नहीं माना गया है। जब कि वह निमित्तपने की अपेक्षा करण कारक से है ही, कर्ता कारक भी सिद्ध हो जाता है। अकिंचित्कर पुस्तक में लिखा है —ध्यान रहे —अधिकरण कभी भी कर्ता या कारण नहीं हुआ करता और न ही वह कोई कार्य ही करता है। कार्य तो हमेशा कर्ता और करण के द्वारा ही हुआ करते हैं। यहां जब मिथ्यात्व को अधिकरण के रूप में प्रयुक्त किया है, तब उसे न कर्ता कहा जा सकता है और न ही करण। अनन्तानुबंधी की बात अलग है। इसके दो अधिकरण हैं —प्रथम गुणस्थान और द्वितीय गुणस्थान। प्रथम गुणस्थान में वह अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है तथा द्वितीय गुणस्थान में मात्र अपना ही बन्ध करती है।

मैं समझता हूं कि इस तरह की विवक्षाओं को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्ता और करणरूप से कार्य के प्रति अकिंचित्कर कह दें तो कोई अन्योक्ति नहीं कहलानी चाहिए।

---

१६. प्र. सा. गा. १६ टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहाँ आस्रव और बन्ध का कर्ता और करण मिथ्यात्व नहीं होता तब अकिंचित्कर ही तो हुआ– यानी आस्त्र और बन्ध में उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है। अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ६५-६६ का यह उल्लेख है।

३. तीन प्रश्न और उनका समाधान

इस कथन में तीन बातें विचारणीय हैं–(१) अधिकरण कभी भी कर्ता या करण नहीं हुआ करता। (२) प्रथम गुणस्थान में वह (अनन्तानुबंधी) अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बाँधती है। (३) इस तरह की विवक्षाओं को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्ता और करण रूप से कार्य के प्रति अकिंचित्कर कह दें तो कोई अन्योक्ति नहीं कहलानी चाहिए।

१. इन तीन बातों में सबसे पहले हम तीसरी बात पर विचार करना इष्ट मानते हैं।अकिंचित्कर पुस्तक की "इस तरह की विवक्षाओं से यह तो मालूम पड़ता है कि अकिंचित्कर पुस्तक में दूसरी प्रकार की विवक्षाएं भी मान्य रही हैं। उनके आधार पर अधिकरणकारक कर्ता या करणकारक भी हो सकते थे। यदि मिथ्यात्व को अकिंचित्कर न कहकर यह पुस्तक लिखी गई होती तो संभव था कि इस दृष्टि से यह पुस्तक विवाद का विषय नहीं बनती। यह तो मनीषी जानते हैं कि, विवक्षा के अनुसार कारक की प्रवृत्ति होती है। कहा भी है–'विवक्षातः कारकप्रवृतेः'। इसी बात को स्पष्ट करते हुए धवला (पुस्तक १२) के पृष्ठ २७६ में जो लिखा है उससे भी यही मालूम पड़ता है कि जहाँ जैसी विवक्षा होती है उसके अनुसार कारक की प्रवृत्ति कर ली जाती है। यथा –

कथं पच्चयस्स सत्तमीए उप्पत्ती ? ण, पाणादिवादपच्चयविसए णाणावरणीय वेयणा वट्टदि त्ति संबंधिज्जमाणे सत्तमी विहत्तीए वइसइयाए उप्पत्तिं पडि विरोहाभावादो। अथवा, तइयत्थे सत्तमी दट्ठव्वा। तथा च पाणादिवादपच्चएण णाणावरणीयवयेणा होदि त्ति सिद्धो सुत्तद्ठो। ध. पु. १२, पृ. २७६.

शंका :–प्रत्यय शब्द की सप्तमी विभक्ति में उत्पत्ति कैसे बन सकती है ?

समाधान :– नहीं, क्योंकि प्राणातिपात प्रत्यय के विषय में ज्ञानावरण कर्म की वेदना वर्तती है ऐसा सम्बध होने पर विषयार्थक सप्तमी विभक्ति की उत्पत्ति में विरोध नहीं आता। अथवा तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति जाननी चाहिए। ऐसा स्वीकार करने पर भी प्राणतिपात प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना होती है, इस प्रकार सूत्र का अर्थ सिद्ध हुआ।

इस उद्धरण से हम जानते हैं कि, अधिकरण कारक के अर्थ में विषयार्थक सप्तमी विभक्ति भी घटित हो जाती है और विवक्षा के अनुसार कारक की प्रवृत्ति होती है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर आचार्य वीरसेन स्वामी ने करणकारक के अर्थ में उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ तृतीया विभक्ति परक भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार द्रव्यकर्मबन्ध के प्रति प्रत्ययपना अधिकरणकारक में भी बन जाता है और करणकारक में भी बन जाता है।

शंका :—यदि अधिकरण की कारक में परिगणना की जाती है तो वह क्यों ? यदि वह कोई कार्य नहीं करता तो उसकी कारकों में परिगणना नहीं होनी चाहिए थी ?

समाधान :—जो कारण का आधार था वही पर्याय के भेद से कार्य का आधार हो गया, इस प्रकार अपेक्षा भेद से कारण का आधार भिन्न हुआ और कार्य का आधार भिन्नहुआ। इस प्रकार आधार भेद से तो उसकी कारकों में परिगणना की जाती है। और इसीलिए वह कार्य के प्रति कारण होकर भी उस आधार से कार्य हुआ —ऐसा माना जाता है।

कारक छह हैं —कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। अपने कार्य के प्रति स्वतंत्र होने से कर्ता की परिगणना कारकों में की जाती है, अपने परिणाम स्वभाव के द्वारा प्राप्त करने योग्य होने से कर्म की कारकों में गिनती की जाती है, अपने परिणाम स्वभाव के प्रति साधकतम होने से करण की गिनती कारकों में होती है, अपने परिणाम स्वभावरूप कर्म के द्वारा समाश्रियमाण होने से सम्प्रदान को कारकों में गिनाया जाता है, पहले के परिणाम स्वभाव को त्यागकर ध्रुवभाव का आलम्बन लेने से वह अपादानपने को प्राप्त हुआ है तथा अपने प्रतिसमय होनेवाले परिणामस्वभाव का आधार होने से वह अधिकरणकारक रूप से परिगणित किया गया है।

अथवा वीरसेनस्वामी के अभिप्रायानुसार सप्तमी विभक्ति का अर्थ तृतीया विभक्ति परक करने से भी करणकारक की सिद्धि हो जाती है। इसलिए अकिंचित्कर पुस्तक का यह कथन नहीं बनता कि अधिकरण कारक कभी भी कर्ता और करणकारक नहीं हुआ करता।" यहीं बात खुद्दाबंध से भी सिद्ध होती है।

यह तो सब मनीषी जानते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व को निमित्तकर जिन १६ प्रकृतियों का बन्ध होता है[१७] उनमें एकेन्द्रिय जाति का भी समावेश है। तथा एकेन्द्रिय जाति का उदय पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व गुंणस्थान में ही होता है[१८]।

खुद्दाबन्ध में लिखा है कि "बंधा" शब्द का अर्थ "बन्धक" करना चाहिये, क्योंकि दोनों पदों की एक कारक (कर्ताकारक) में निष्पत्ति हुई है। इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में जो १६ प्रकृतियॉं बंधती हैं उनका बन्धक नियम से मिथ्यात्वी जीव होता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय के साथ सोलह प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक उपलब्ध होता है।

इस उदाहरण से भी यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी जीव उक्त १६ प्रकृतियों को नियम से बांधता है। चाहे वह व्यवधान से १६ प्रकृतियों के भीतर कम को भी बांधे तो

---

१७. मिच्छत्तहुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे ॥१५॥ गो. कर्म का.।

१८. गो. क., गा. नं. ३०६-३०७। खु. बं., पृ. १०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अगले समय में अधिक को बांधे, पर मिथ्यात्व के उदय से ही सोलह प्रकृतियों को बांधता है यह नियम है। उस समय उन प्रकृतियों के बन्ध का कर्ता और करण कारक मिथ्यात्व हो जाता है।

इसप्रकार अधिकरण कारक में जितना विवेचन किया जाता है वह सब विवेचन कर्ता और करणकारक में भी बन जाता है।

२ –अकिंचित्कर पुस्तक में जो यह कहा गया है कि "अधिकरण कभी भी कर्ता और करण नहीं हुआ करता।" सो इस बात का उत्तर तीसरे प्रश्न के उत्तर से हो जाता है।

अब रहा दूसरा प्रश्न, उसमें कहा गया है कि "अनन्तानुबंधी अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है" सो इसका उत्तर धवला के इस कथन से हो जाता हैकि मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों के बन्ध का कारण मिथ्यात्व के उदय के साथ मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय-व्यतिरेक उपलब्ध होता है, अनन्तानुबंधी के साथ नहीं[१९], इसलिये "अनन्तानुबंधी अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है" यह कहनाआगम विरुद्ध हो जाता है। प्रवचनसार में साधु को आगमचक्षु[२०] इसीलिए कहा गया है कि वह आगम के अनुसार ही कथन करता है। कहा भी है कि "सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिनैव हन्यते" अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने जो तत्व की प्ररूपणा की है उसे हेतुओं द्वारा खण्डित नहीं किया जा सकता। यही हम अकिंचित्कर पुस्तक की प्ररूपणा से भी आशा करते थे कि उसमें जो कुछ लिखा गया है वह शास्त्र सम्मत होना चाहिए था। परन्तु ऐसा दृष्टिगत नहीं हुआ।

यद्यपि इस कथन का समाधान अन्य प्रकारों से भी हो सकता है, पर हमने अन्य आधारों से विचार न कर यहां मुख्यतः नमूने के आधार पर आगम सम्मत एक ही बात कही है। इससे मालूम पड़ जाता है कि 'अकिंचित्कर' पूरी पुस्तक विचारणीय है, अतः इस आधार पर क्रम से विचार करते हैं।

'अकिंचित्कर' पुस्तक के लेखक के समान हम भी छद्मस्थ है, इसलिये कदाचित् आगम के अनुसार कथन में भूल हो जाय तो विद्वान पुरूष भूल को सुधार कर हमें क्षमा करेंगे तथा छल ग्रहण नहीं करेंगे। आगम की परम्परा को चलाने का यही मार्ग है। इसे पुराने आचार्यों ने भी स्वीकार किया था। हम भी उस मार्ग का अनुसरण करेंगे। इसी से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। आगम में हितकारी क्या है और अहितकारी क्या है ? इस शंका का समाधान करते हुए रत्नकरण्डश्रावकाचार[२१] में लिखा है –

धर्म को जीवन में पूरी तरह से उतारने वाले तीर्थंकर और उनके मार्गपर पूरी तरह से चलनेवाले आचार्य आदि कहते हैं कि, इस संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

---

१९. ध. पु. ७, पृ. १०– सोलसण्हं पयडीणं बंधस्य मिच्छत्तुदओ कारणं, तदुदयण्णयवदिरेगेहि सोलसपयडीबंधस्स अण्णयवदिरेगाणमुवलंभादो।

२०. प्र. सा. गा. २३४।

२१. र. क. श्रा. श्लोक ३१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और सम्यक्चारित्र ही हितकारी हैं तथा संसार को बढ़ानेवाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही अहितकारी हैं[२२] इसी बात को दूसरे शब्दों में स्पष्ट करते हुए धवला पु. ७ के पृष्ठ ६ पर लिखा है –

संसार में बन्ध के (अहित के) कारण मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग हैं तथा मोक्ष के (हित के) कारण सम्यग्दर्शन, संयम, अकषायभाव और अयोग हैं[२३] ।

४. मिथ्यात्व का स्वरूप

आगम में संसार के कारणों का विचार करते हुए सर्वप्रथम मिथ्यात्व क्या है इस पर विचार किया गया है। मिथ्यात्व के स्वरुप का विचार कई दृष्टियों से किया गया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार चरणानुयोग का मुख्य ग्रन्थ है। उसमें विचार करते हुए बतलाया है कि परमार्थस्वरुप देव, शास्त्र और गुरू का तीन मूढ़ता, छह अनायतन, आठ मद और शंकादिक आठ दोषों से रहित तथा आठ अंग सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तथा इससे विपरीत श्रद्धान करना मिथ्यात्व है[२४] । पंचास्तिकाय[२५] में लिखा है कि जिसके हृदय में परद्रव्य के विषय में अणुमात्र भी राग विद्यमान है वह ११ अंग और ६ पूर्व का जानकार होकर भी अपने आत्मा को नहीं जानता, वह तीव्र मिथ्यात्वी है। पंचास्तिकाय छह द्रव्यों के स्वरूप आदि का कथन करनेवाला मुख्य शास्त्र है। उसमें मिथ्यात्व का स्वरूप क्या है ? इसको बतलाने के अभिप्राय से उक्त कथन किया है। द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ समयसार में बतलाया है कि जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ नष्ट हो जाता है–तिरोभूत हो जाता है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ–लिप्त होता हुआ वास्तव में सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, तिरोभूत हो जाता है ऐसा जानना चाहिए[२६] । ज्ञान का सम्यक्त्व (सम्यक्पना) जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है।

---

२२. ध. पु. ७, पृ. ६ –मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगा बंधकारणाणि। सम्मद्दंसण –संजमाकसायाजोगा मोक्खकारणाणि। वुत्तं च –
मिच्छत्ताविरदी वि य कसायजोगा य आसवा होंति।
दंसण-विरमण-णिग्गह-णिरोहया संवरो होंति ॥२॥ ध. पु. ७, पृ. ६ ।

२३. मूला. गा. ७०७ –
किं केण कस्य कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणि ओगद्दारे हि सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥७०७॥
तथा त. सू. अ. १, सू. ७–निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विधानतः ।

२४. र. क. श्रा. श्लो. ४ ।

२५. पंचा. गा. १६७, तथा स. प्रा. गा. २०१, २०२ ।

२६. स. प्रा. गा. १५७ की आत्मख्याति टी. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. मिथ्यात्व की प्राप्ति किस कारण से होती है ?

यह तो सब जानते हैं कि कुदेव में देवबुद्धि कुगुरू में गुरूबुद्धि और कुशास्त्र में शास्त्रबुद्धि आदि होने से मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। अथवा अतत्व में तत्वबुद्धि करने से मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है[२७]। अथवा हे त्रिभुवनपते ! आपके शासन से बाह्य (सर्वथा एकान्तवादी) जन सुख की प्राप्ति के लिए दुःखों की (पंचाग्नितपादि की), गुणों की प्राप्ति के लिए दोषों की (परनिन्दा आदि की) तथा धर्म की प्राप्ति के लिए पाप कार्यों की (नरमेघ आदि यज्ञों की) उपासना करते हैं। मानो बालक तेल की प्राप्ति के लिए बालू के समूह को पेलते हैं[२८]। विषाप. स्तो., श्लो. १३। इस प्रकार के श्रद्धान से मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्व की प्राप्ति के ये मुख्य कारण हैं। शिवपूजा में शासनदेव-देवी की पूजा भी सम्मिलित है। यह भी मिथ्यात्व की प्राप्ति का कारण है।

६. मिथ्यात्व का स्वामी कौन ?

मिथ्यात्व की प्राप्ति में कारणभूत कार्यों को करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का स्वामी है। कारणों का निर्देश पहले ही कर आये हैं। अथवा जिसके मिथ्यात्व कर्म का उदय विद्यमान है वह मिथ्यात्वरूप परिणाम का स्वामी है[२६]।

शंका :— एकेन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है यह कैसे समझा जाय ?

समाधान :—आगमप्रमाण इसका साक्षी है कि एकेन्द्रियों से लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तक के जीवों के मिथ्यात्व गुणस्थान ही पाया जाता है। उन जीवों के प्रमुखता से अज्ञानिक मिथ्यात्व होता है[३०]। अथवा उनके नैसर्गिक मिथ्यादर्शन होता है[३१]।

अन्य मार्गणाओं में भी इसीप्रकार यथायोग्य समझ लेना चाहिए।

७. मिथ्यात्व का अधिकरण क्या ?

मिथ्यात्व के उदयवाला जीव ही मिथ्यात्व का अधिकरण होता है। मिथ्यात्व के स्वामी के कथन से भी मिथ्यात्व के अधिकरण का ज्ञान हो जाता है।

---

२७. अन. घ. अ. २, श्लोक ६, ७, १०।
शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमम्युपगच्छताम्। निशङ्कं भूतघातोयं नियोगः कोपि दुर्विधेः ॥६॥
येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्धानां श्रुतिं रसात्। चरन्ति श्रेयसे हिंसा स हिंस्यो मोहराक्षसः ॥७॥
तत्वरुचिरतत्वाभिनिवेशस्तत्वसंशयः। मिथ्यात्वं वा क्वचित्किंचिन्नाश्रेयो जातु तादृशम् ॥१०॥

२८. विषा. स्तो. १३।

२६. गा. ३०६ से लेकर ३०६ तक गो. क.।

३०. हिताहित परीक्षा विरदोऽज्ञातिकम्। स. सि..पृ. २१२।

३१. परोपदेशमन्तरेण मेथ्यात्वकर्मोदयवशात् यदाविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। स. सि. ८–६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. मिथ्यात्व के भेद कितने हैं ?

मिथ्यात्व के दो भेद हैं —अधिगमज और नैसर्गिक । जो मिथ्यात्व परोपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज मिथ्यात्व कहलाता है[३२] और जो मिथ्यात्व, हित क्या है ? और अहितक्या है ? इसकी परीक्षा किये बिना होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है । अथवा मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं —एकान्त मिथ्यादर्शन[३३], विपरीत मिथ्यादर्शन[३४], संशय मिथ्यादर्शन[३५], वैनयिक मिथ्यादर्शन[३६] और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन[३७] ।

९. मिथ्यात्व का काल

मिथ्यादर्शन का काल सामान्य की अपेक्षा और विशेष की अपेक्षा —इसतरह दो प्रकार से आगम में बतलाया गया है । सामान्य से विचार करने पर नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल है । आशय यह है कि मिथ्यादृष्टिजीवों से यह लोक कभी भी रिक्त नहीं होता ।

एक जीव की अपेक्षा काल तीन प्रकार से प्राप्त होता है—(१) अनादि-अनंत काल (२) अनादि-सान्त काल (३) सादि-सान्त काल । इनमें से सादि-सान्त काल की अपेक्षा जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्द्ध-पुद्गलपरावर्तन प्रमाण मिथ्यात्व का काल है ।

छह अनुयोगों के द्वारा यह मिथ्यात्व की मीमांसा की है । इसी प्रकार अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की अपेक्षा भी विचार कर लेना चाहिए । अविरति दो प्रकार से होती है —पाँच स्थावरकाय और एक त्रसकाय के जीवों के निमित्त से तथा पाँचों इन्द्रियों और एक मन के निमित्त से— इस प्रकारअविरति के १२ भेद हो जाते हैं । शुद्धचष्टक और उत्तम क्षमा आदि विषयक भेद से प्रमाद अनेक प्रकार का है । कषाय २५ प्रकार की है तथा योग १५ प्रकार का है[३८] ।

शंका :—कषायों में असंयम का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिये उसको अलग से नहीं कहना चाहिए ?

---

३२. परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्, क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिक वैनयिक विकल्पात् ।

३३. तत्रिदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः ।

३४. पुरुष एवेदं सर्वम्-इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति । सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिविपर्ययः ।

३५. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वानवेत्यन्तपक्षापरिग्रह संशयः।

३६. सर्वदेवानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम् ।

३७. हिताहितपरीक्षा विरहोऽज्ञानिकत्वम् । स.सि.पृ. २६२

३८. स.सि. अ. ८. सू. १ पृ. २६२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—असंयम का यद्यपि कषायों में अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी उसका व्यवहारनय की अपेक्षा अलग से कथन किया गया है, क्योंकि यहां जो मिथ्यात्व आदि की प्ररूपणा की गई है वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा ही की गई है[३६]। उसी प्रकार प्राणातिपात आदि भावों का भी अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

ये जो मिथ्यात्व आदि ५ कारण कहे गये हैं वे यहां बन्ध की अपेक्षा ही कहे गये हैं, इसलिये यहां बन्ध का स्वरूप और उसके भेद विचारणीय हो जाते हैं।

१०. बन्ध का स्वरूप और उसके कारण

अज्ञान आदि दोषों के कारण यह जीव और पुद्गल के (कार्माणवर्गणाओं का) परस्पर अवगाह लक्षण सम्बन्ध का नाम बन्ध है[४०]। उसके मूल भेद चार हैं। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। उनमें प्रकृति का नाम स्वभाव है[४१]। जैसे नीमकी क्या प्रकृति है ? ऐसा पूछने पर यह जानने की जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि नीम की प्रकृति कड़वापन है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि की प्रकृति अपने-अपने नाम के अनुसार जाननी चाहिए[४२]। जितने काल तक जो कर्म अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता उसका नाम स्थितिबंध है[४३]। कर्मों की जो फलदान शक्ति प्राप्त होती है वह अनुभाग बन्ध है[४४]। कर्मरूप से प्राप्त हुए कर्म पुद्गल परमाणुओं का ज्ञानपूर्वक निश्चय करना प्रदेशबन्ध है[४५]।

इस प्रकार कर्मबन्ध के स्वरूप का अवधारण कर, कर्मबंध के मूलभेद ८ हैं। उत्तरभेद १४८अथवा असंख्यात लोकप्रमाण हैं। इसी प्रकार अविरति आदि का भी इन अनुयोगों द्वारा विचार कर लेना चाहिए।

पर्यायार्थिकनय से बन्ध के कारण ५ हैं —मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[४६]। इन कारणों में मिथ्यात्व को सर्वप्रथम बन्ध के कारणों में लिया गया है।

किन्तु अकिंचित्कर पुस्तक में बन्ध के कारणों में मिथ्यात्वको करण और कर्ताकारक में नहीं गिनाया गया है। अकिं. पु., पृ. ६५-६६। इस अपेक्षा से मिथ्यात्व को छोड़कर

---

३९. ध. पु. ७, पृ. १३।
४०. जीव पुद्गलयोः परस्परावगाह लक्षण सम्बन्धात्मा बन्धः, स.प्रा. गा. ६९-७० की टीका।
४१. स.सि.अ. ८ सू. ३।
४२. प्रकृति स्वभावः। निम्बस्य का प्रकृतिः ? तिक्तता
४३. यथा अजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः। तथा ज्ञानावरणादीनामर्थावगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिः।
४४. यथा-अजगोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्र-मन्दादिभावने रस विशेषः, तथा कर्म पुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः
४५. कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशबन्धः। स. सि. अ. ८. सू. ३।
४६. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्ध हेतवः। त. सू. ८-१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार ही बन्ध के कारण ठहरते हैं, अतः यहां विचारणीय हो जाता है कि तत्वार्थसूत्र आदि सूत्रकारों ने मिथ्यात्व को किस अपेक्षा से कर्मबन्ध के कारणों में गिनाया है। आगम-आगम है। उसमें जब मिथ्यात्व को नैगम, संग्रह और व्यवहार आदि सातों नयों से कर्मबन्ध के कारणों में गिनाया गया है[४७] तो अकिंचित्कर पुस्तक में इस सरणि को क्यों नहीं अपनाया गया है। यह विचारणीय हो जाता है।

वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार के ८वें सूत्र में राग और द्वेष के साथ "मोह"[४८] शब्द भी आया है। मोह में क्रोधादि के साथ मिथ्यात्व का भी परिग्रहण हो जाता है। इसलिये यह प्रश्न उठता है कि अकिंचित्कर पुस्तक में मिथ्यात्व को कर्ता और करणरूप से बन्ध के कारणों में क्यो नहीं गिनाया गया है ? जबकि समयप्राभृत में भी आस्रव और बन्ध में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग का समावेश किया गया है[४९]।

यही स्थिति आचार्य बट्टकेर की भी है। वे भी यह स्वीकार करते हैं कि उक्त चार, कर्म के आस्रव हैं[५०]। बन्ध के हेतु कहो चाहे आस्रव कहो, एक ही बात है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि तत्वार्थसूत्र में बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व आदि को लिया है और समयप्राभृत तथा मूलाचार में इनको आस्रव में लिया है। ऐसा भेद इन आगमों में क्यों किया गया है ?

समाधान :—यह है कि जो कर्मवर्गणाएं संसारी आत्मा में १३ वें गुणस्थान तक विस्रसोपचय रूप से अवस्थित हैं वे स्वयं अकर्मरूप थीं, किन्तु मिथ्यात्व आदि का निमित्त पाकर उनका ज्ञानावरणादि रूप से परिणमना मिथ्यात्व आदि पाँचों का कार्य है। यह दिखाने के लिए उक्त दोनों आचार्यों ने इन पाँचों को आस्रव में परिगणित किया है।

दूसरी शंका यह हो सकती है कि आचार्य गृद्धपिच्छ ने पुद्गल कर्मबंध में पाँच कारण गिनाये हैं और उक्त दोनों आचार्यों ने प्रमाद को छोड़कर चार कारण गिनाये हैं, प्रमाद को छोड़ दिया है ऐसा भेद क्यों किया गया है ?

समाधान :—यह है कि एक तो प्रमाद अनन्तानुबंधी आदि चार कषायों में गर्भित हो जाता है। दूसरे, तत्वार्थसूत्र में गुणास्थानों की अपेक्षा विवेचन करना मुख्य है। तथा उक्त दोनों आगमों में गुणस्थानों की अपेक्षा विवेचन करने की मुख्यता न होकर सामान्य बन्ध के कारण रूप से आस्रवों के विवेचन करने की मुख्यता रही है, इसलिये उन दोनों आगमों में प्रमाद का कषायों में अन्तर्भाव करके चार ही आस्त्रव कहे हैं।

---

४७. ध. पु. १२– वे. प्र. अ. सू. २ तथा ११– णेगम-व्यवहार-संगहाणं णाणावरणीय-वेयणा पाणादिवादपच्चए ॥१२॥ एवंसत्तण्णं कम्माणं ॥११॥

४८. वे. प्र. सू. ८ टी.–क्रोध–माण–माया–लोम–हाय–रत्यरति–शोक–भय–जुगुप्सा–स्त्री–पुंनपुंसकवेद–मिथ्यात्वानां समूहो मोहः।

४९. स.प्रा. गा. १६४–१६५।

५०. मूला. चा. गा. –२३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. संसार का मूल कारण मिथ्यात्व विषयक भगवतीआराधना के उद्धरण

संसारमूलहेदुं, मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि ।
वुद्धी गुणणिणादं पि हु, मिच्छत्तं मोहिदम कुणइ ॥२८॥

संसार परिभ्रमण का मूलकारण जो मिथ्यात्व, ताही सर्वप्रकार करि मनवचनकाय करिकै वर्जन करो । गुणनिकरि सहित हू बुद्धी कूं मिथ्यात्व जो है, सो मोहित करे है ।

परिहर तं मिच्छत्तं, सम्मत्ताणहणाए दढचित्तो ॥२९॥

हे मुने ! मिथ्यात्व को त्याग करहू अर सम्यक्तवाराधना मैं दृढ़चित्त होहू ।

मयतण्हियाउ उदय-त्ति मया मणणांति जह सतराहयगा ।
तह य णारा वि असब्भूदं सब्भूदंति मोहेण ॥७३०॥

इस मिथ्यात्व तैं समस्तपदार्थनिकूं विपरीत ग्रहण करे है जैसे जल की तृष्णासहित जे मृग कहिये वन का जीव, ते मृगतृष्णानिकूं जल मानत हैं, तैसैं संसारी जीव मोहकरिकै असत्यार्थ हू कूं सत्यार्थ माने है ।

मिच्छत्तमोहणादो, धत्तूरयमोहणां वरं होई ।
वढ्ढेदि जम्ममरणां, दंसणमोहो दु णा दु इदरं ॥३१॥

मिथ्यात्वतैं उपज्या जो मोह, तातैं, धत्तूरतैं उपज्या मोह अति भला है । जैसे दर्शनमोह का उदय अनंतानंत जन्ममरण बधावै, तैसैं धत्तूर नहीं वधावै, धत्तूरा खाया हुया तो अल्पकाल उन्मत्त करे है अर मिथ्यादर्शन अनंतानंतभवपर्यंत अचेत करिकरि मारे हैं ! तांतैं जन्ममरण के दुःखनितैं भयभीत होय सो मिथ्यादर्शन त्याग करे है । अब इहां कोऊ कहै–मिथ्यात्व का त्याग तो पहले ही करि मुनिव्रत धार्या है, बहुरि मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश का कहा प्रयोजन है ? ताका उत्तर कहे हैं–

जीवो अणादिकालं पवत्तमिच्छत्तभाविदो संतो ।
णा रमेज्ज हु सम्मत्ते, एत्थ पयत्तं खु कादव्वं ॥३२॥

अनादिकाल का प्रवर्त्या जो मिथ्यात्व ताहि अनुभवनरूप कीया संता जीव सम्यक्त्व में नहीं रमे है, तातै सम्यक्त्व ही मैं प्रयत्न करना योग्य है ।

अग्गिविसकिराउसप्पा, दिया य दोसं णा तं करेजण्हू ।
जं कुणदि महादोसं तिव्वं जीवस्स मिच्छत्तं ॥३३॥

अग्गिविसकिण्हसप्पा, दिया दु दोसं करंति एयभवे ।
मिच्छत्तं पुण दोसं, करेदि भवकोडिकोडीसु ॥३४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव कै जो तीव्र दोष मिथ्यात्व करे है सो महादोष अग्नि विष कृष्णसर्पादिक नहीं करे हैं। अग्नि विष सर्पादिक तो एकभवविषैं दोष करे हैं दुख देय मारे है, अर मिथ्यात्व है सो भवनि की कोटाकोटी वा असंख्यात्‌भव, अनंतभवपर्यंत दोष करे है, मारे है। विशेष के लिए भावार्थ देखिए।

मिच्छत्तसल्लविद्धा, तिव्वाओ वेदणाउ वेदंति।
विसलित्तकंडविद्धा, जय पुरिसा णिप्पडीकारा ॥३५॥

जैसे विषकरिके लिप्त जो बाण, ताकरि वेधे जे पुरूष तिनका इलाज नहीं, मार्या ही जाय है ! तैसें मिथ्यात्वशल्यकरि वेध्या पुरूष हूं तीव्र वेदना करि निगोद में तथा नरकतिर्यंच में अनंतानंतकाल अनुभवे है। इलाज निकलने का नहीं पहुंचे है।

अच्छीणि संघसिरिणो, मिच्छत्तणिकाचणोण पडिदाइं।
कालगदो वि य संतो, जादो सो दीहसंसारे ॥३६॥

जैसे संघ श्री नामा कोई पुरूष का मिथ्यात्व की तीव्रताकरि दोऊ नेत्र आय पड़े। अर पाछै अंध होय तीव्रवेदना भोगतो मरणकरि अनंतसंसार में परिभ्रमण करने वालो हुओ। कोऊ कहे—एक मिथ्यात्व हमारे है, तोहू मैं दुर्धरचारित्र धारण करत हूं। सो चारित्र मोकूं संसार के दुःखतैं निकासनेकूं समर्थ है। ऐसा आशंका करे है। सो मति करहू ऐसे दिखावे हैं।

कडुगम्मि अणिव्वलिद-म्भि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलि, यम्मि य मधुरं सुगंध च ॥३७॥

तह मिच्छत्तकडुइदे, जीवे तवणाणाचरणाविरियाणि।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मिय सकलाणि जायंति ॥३८॥

जैसे अशुद्ध कहिये गिरसहित कड़वी तूंबी में धारण कीया दुग्ध कटुक होय है अर गिरी काढि शुद्ध की जो तूंबी तामैं धारण कीया दुग्ध मधुर रहे है अर सुगंध रहे है; तैसे मिथ्यात्वकरिकै कटुक जो जीव, ताविषैं ग्रहण कीये जे तप ज्ञान चारित्र वीर्य ते नाशकूं प्राप्त होय हैं, अर जा जीव का मिथ्यात्व नष्ट हो गया, ता जीवविषैं तप ज्ञान चारित्र वीर्य सफल होय है।

इसके बाद नव गाथा में सम्यक्त्व की महिमा करते हुए लिखते हैं कि हे मुने ! सर्व सांसारिक दुःख का नाश करने वाला जो सम्यग्दर्शन, ताके धारण करनेमें प्रमादी मति होहू-आलसी मति होहू। सम्यग्दर्शन जैसैं उज्ज्वल होय, दृढ़ होय, तैसें निरंतर उद्यम करो। जातैं ज्ञान, चारित्र, तप वीर्य का सम्यग्दर्शन आधार है।सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य एक हू नहीं होय है, गा. ॥३९॥

१२ ऋजुसूत्रनय से विचार

वेदना खण्ड प्रत्यय अनुयोग द्वार में ११ सूत्रों द्वारा नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों से विचार करने के बाद ऋजुसूत्रनय से विचार करते हुए दो सूत्र आये हैं —इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रों द्वारा तो ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होता है[५१] तथा स्थिति बंध और अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होता है[५२] यह कहा गया है। इन दोनों सूत्रों की टीका में ऐसा क्यों कहा गया है इसका खुलासा करते हुए इसका कारण योगों की वृद्धि और हानि को[५३], तथा कषायों की वृद्धि और हानि को बतलाया गया है[५४]।

शंका :—प्रकृति बन्ध, योग के निमित्त से कैसे होता है ?

समाधान :—योग के बिना ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, और ऐसा नियम है कि जिसके बिना जिसकी उपलब्धि नहीं हो सकती है वह उसका कार्य है और दूसरा (योग) उसका कारण है, इसलिये प्रदेशबन्ध के समान प्रकृतिबंध भी योग के निमित्त से सिद्ध हो जाता है।

शंका :—यदि योग के निमित्त से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध तथा कषाय के निमित्त से स्थितिबंध और अनुभागबंध बन जाते हैं तो नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनयसे विचार करने पर सब के प्रत्ययपना ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बंध के व्यवहार कारण प्राणातिपात आदि हैं यह कैसे बन सकते है ?

समाधान :—नहीं, क्योंकि उनके द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध पाया जाता है, इसलिये प्राणातिपात आदि ज्ञानावरण आदिक कर्मों के कर्म बंध के कारण हैं यह सिद्ध हो जाता है[५५]। दूसरे प्राणातिपात आदि का कषाय में अन्तर्भाव होने पर भी पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से इसका अलग कथन करना असंगत नहीं है।

यहाँ यह जो कहा गया है कि कारण से कार्य होता है —यह नहीं कहा जा सकता, सो यह कथन प्रमादपूर्वक होनेवाली हिंसा आदि के लिए नहीं कहा गया है। यह वचन सावधानीपूर्वक हिंसा आदि नहीं करनेवालों की अपेक्षा कहा गया है। उसकी पुष्टि तो "जो कुम्भकार घड़ा नहीं बना रहा है फिर भी उसे कुम्भकार कहने के समान" इस वचन से हो जाती है।

---

५१. वे. प्र. अ. सू. १२ —उज्जुसुदस्स णाणावरणीयवेयणा जोगपच्चए पयडिपदेसग्गं ॥

५२. ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सू. १३ कसायपच्चए ठिदि अणुभागवेयणा।

५३. ध. पु. १२— वे. प्र. अ. सू. १२ ध. टी., ण च जोगवड्ढि-हाणीयो मोत्तूण अण्णेहिंतो णाणावरणीयपदेसग्गस्स वड्ढिं हाणिं वा पेच्छामो।

५४. ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सू. १३ ध. टी. णाणावरणी(ट्ठिवेयणा अणुभागवेयणा च कसाय पच्चएण होदि, कषायवड्ढिं हाणीहिंतो ट्ठिदि अणुभागाणं वड्ढि हाणिदंसणादो।

५५. वट्टमाण पज्जएण उवलक्खियं दव्वं भावो णाम ——————————वजणपज्जाएण पादिददव्वसु सुद्ठ असुद्धदव्वट्ठिसु वि अत्थि भावणिक्खेवो, तत्थ वि तिकाल संभवादो। ज. ध. पु. १, पृ. २६०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका आशय यह है कि जो परिणाम प्रमादपूर्वक हिंसा आदि कार्यों को कर रहा है वह परिणाम ही यहां ज्ञानावरणादि कर्मबंध का कारण है[५६], अन्य नहीं। व्यवहार करना अन्य बात है और परमार्थ को मानकर वस्तु का निर्णय करना अन्य बात है।

१३. पर्यायार्थिक नय की सिद्धि कैसे होती है ? उसका एक प्रकार

योग और कषाय ज्ञानावरणादि कर्मबंध के कारण क्यो हैं ? इसकी सिद्धि करते हुए धवला में बतलाया है कि प्राणातिपात-मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन से ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बंधता है, क्योंकि उनके बिना भी अप्रमत्त सयंत आदि में ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध उपलब्ध होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ से भी ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध नहीं उपलब्ध होता, क्योंकि कर्मों के उदयवालों के उन कर्मो के उदय से रहित काल में भी कर्मों का बन्ध उपलब्ध होता है। निदान-आम्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मोष, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन से भी ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्ध नहीं उपलब्ध होता, क्योंकि सूक्ष्मसांपराय संयतों के, उनके बिना भी ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध पाया जाता है। इसलिए ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्ध योग और कषाय से होता है यह सिद्ध हुआ।

इस पूरे कथन का आशय यह है कि योग और कषाय तो प्रथम गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक तो नियम से पाये जाते हैं, इसलिए इनके द्वारा सर्वत्र कर्मबन्ध की उपलब्धि में कारणता बन जाती है। यहां बन्ध के दूसरे कारणों का निषेध नहीं किया गया है। वे भी कर्म बन्ध के यथास्थान सब कारण हैं। मात्र योग और कषाय १०वें गुणस्थान तक नियम से कर्मबन्ध के कारण हैं। यह बतलाना इस प्रकरण का मुख्य आशय है। और इसीलिये स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा सर्वत्र १०वें गुणस्थान तक योग और कषाय को कर्मबंध का कारण कहा है[५७]। यथास्थान दूसरे भी कारण हैं। पर मिथ्यात्व के सिवाय वे (अविरति औरप्रमाद) यथास्थान कषाय में अन्तर्भाव को

---

५६. ध. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १३, ध. टी. जोगा-पयडि-पदेसे–ट्ठिदि-अणुमागे कसायदो कुणदि। जदि एवं तो दव्वट्ठियणएसु पुव्विल्लेसु तीसु वि पाणादिवादादीणं पच्चयत्तं कत्तो जुज्जदे ? ण, तेसु संतेसु णाणावरणीयबंधुवलंभादो। नावश्यं कारणाणि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे-कुम्भकारव्यवहोरोपलम्भात्।

५७. ण णाणादिवाद मुसावादादत्तादाण-मेहुण–परिग्गह-रदिमोयणपच्चे णाणावरणीयं बज्झदि, तेण विणा वि अप्पमत्तसंजदादिसु बंधुवलंभादो। ण कोह-माण-माय-लोमेहि बज्झइ, कम्मोदिल्लाणं तेसिमुदयविरहिदद्धाए तब्बंधुवलंभादो। ण णिदाणब्मक्खाण–कलह–पेसुण्ण–रइ–अरइ–उवहि–णियदि–माण–माय–मोस–मिच्छाणाण 'मिच्छदंसणेहि, तेहि विणा वि सुहुगसांपराइयसंजदेसु तब्बंधुवलंमादो। यद्यस्मिन् सत्येव मवति नासति तत्तस्य कारणामिति न्यायात्। तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोग–कसाएहि चेव होदित्ति सिद्धं ध. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त हो जातै हैं। मिथ्यात्व, कषाय से पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अलग कारण है। पर्यायार्थिक नय से कहीं उसकी कार्य-कारण में सिद्धि होती है।

ऋजुसूत्रनय का कथन आगम में दो प्रकार से उपलब्ध होता है—एक शुद्ध ऋजुसूत्रनय से और दूसरा अशुद्ध ऋजुसूत्रनय से। इनमें यहां कौन सा ऋजुसूत्रनय लेना चाहिये। यह एक शंका है, क्योंकि शुद्ध ऋजुसूत्रनय में कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता, क्योंकि कार्य-कारणभाव शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय न होकर नैगमनय का विषय है। इसलिए यहां अशुद्ध ऋजुसूत्रनय से योग और कषाय को ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का कारण कहा है[५८]। क्योंकि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय में पर्याय सहित द्रव्य की विवक्षा बन जाती है।

यहां विशेषरूप से यह समझना चाहिए कि इस वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में नैगमादि सात नयों से ज्ञानावरणादि कर्मों के बन्ध के कारणों का विवेचन किया गया है। इसलिये प्रारंभ के नैगमादि तीन नयों से विवेचन करते हुए सूत्र ८ में यह बतलाया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष और मोह की अपेक्षा विचार करने पर नैगमादि तीन नयों से इन कर्मों के बन्ध के अन्यकारण क्रोधादिक भी सिद्ध होते हैं[५९]।

संग्रहनय के विषय में शंका-समाधान करते हुए इस अनुयोगद्वार के सूत्र १० की टीका में बतलाया है कि संग्रहनय में उसको प्रधान करने पर समस्त विशेषों का संग्रह होते हुए भी कार्य-कारणभेद बन जाता है[६०]।

१४. कर्मबन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को क्यों लिया गया ?

यहां मुख्यरूप से कर्मबंध के हेतुओं पर विचार करते हुए मिथ्यात्व को कर्मबंध के हेतुओं में क्यों लिया गया है ? इस विषय पर मुख्य रूप से विचार करना है, क्योंकि अकिंचित्कर पुस्तक में कर्मबंध के हेतुओं में मिथ्यात्व को अधिकरणकारक में रखकर भी कर्ता और करणकारक की अपेक्षा मिथ्यात्व को बंध का हेतु नहीं माना गया है। इसलिये यहां विचार करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किस अपेक्षा से मिथ्यात्व को कर्ता और करणकारक में बंध का हेतु आगम में स्वीकार किया गया है और किस अपेक्षा से अधिकरण कारक में बंध का हेतु स्वीकार किया गया है।

---

५८. ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सू. १४ ध. टी. असुद्धपज्जवट्ठिए उजुसुदे अणंतसत्तिसंजुत्तेगदव्वत्थित्तं पडि विरोहाभावादो। वट्टमाणकालविसयुजुसुदवत्थुस्स दवणाभावादो ण तत्थ दव्वमिदि णाणावरणीयवेयणा णत्थि त्ति वुत्ते-ण, वट्टमाणकालस्स वंजणपज्जाए पडुच्च अवट्ठियस्स सगासेसावयवाणं गदस्स दव्वत्तं पडि विरोहमावादो।

५९. ज. ध. भा. १, पृ. २५१—णेगम-संग्रह-ववहारा सव्वे इच्छंति।

६०. संगहम्मि पहाणीकयम्मि संगहिदासेसविसेसम्हि कज्ज कारणभेदुववत्तीदो। ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सू. १० टी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह एक मौलिक शंका है। इस पर विचार कर लिया जाय तो अकिंचित्कर पुस्तक में जो कथन अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिए किया गया है उसकी नींव के धँस जाने से अकिंचिंत्कर पुस्तक का महल ही ढह जायगा।

वहाँ "यह कषाय मिथ्यादर्शन रूपी फलों को उत्पन्न करती है"। (अकिं. पु. पृ. १६) इस कथन से मालूम पड़ता है कि अकिं. पुस्तक में कषाय को ही महत्त्व दिया गया है।

अकिं. पुस्तक के अंत में लिखा है कि "हमारा उद्देश्य भूल सुधार व अनाग्रह भाव है", किन्तु अकिंचित्कर पुस्तक में भूल को कायम रखकर आग्रहपूर्ण ही कथन दृष्टिगोचर होता है। इसलिये इसे गौणकर मुख्य विषय पर विचार करना ही प्रकृत में इष्ट लगता है, क्योंकि प्रकृत विषय का समाधान होने पर अकिंचित्कर पुस्तक द्वारा किया गया महल स्वयं ही गिर जायगा ऐसा मैं मानता हूं।

१५. कर्मबंध के हेतुओं में कर्ता का विचार :-

मिथ्यात्व कर्म बंध का कर्ता है या नहीं यह सर्वप्रथम विचारणीय है। आगम में कहा गया है कि मिथ्यादृष्टिजीव यदि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों को एक समय में और नाना समय में बांधे तो मिथ्यात्व के कारण ही बांधता है क्योंकि मिथ्यात्व के साथ उन प्रकृतियों के बंध का अन्वयव्यतिरेक देखा जाता है[६१]।

यहां सवाल उठता है कि खुद्दाबंध तो कहता है कि इन मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बंध का कारण मिथ्यात्व का उदय नियामक है। अन्य प्रकृतियों का बंध हो तो उनके बंध में मिथ्यात्व का उदय निमित्त होकर भी नियामक नहीं है। वहां मूल ग्रन्थ में इसी बात को ध्यान में रखकर यह वचन उपलब्ध होता है : सोलसंगह पयडीणं बंधस्य मिच्छत्तुदओ कारणं—यह उद्धरण टिप्पण में दिया ही है।

शंका : इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार के सूत्रों में तो यह स्वीकार किया है कि ऋजुसूत्रनय से तो चारों प्रकार के बंधों का कारण योग और कषायों को ही कहा है[६२]। फिर आप मिथ्यात्व को गौण करके योग और कषाय को बंध के प्रकरण में मुख्यता क्यों नहीं देते ?

समाधान : यहां मुख्यता और गौणता का प्रश्न नहीं है। यहां तो यह देखना है कि मिथ्यात्व—गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय न रहे तब भी मिथ्यात्व का बंध

६१. तत्थ मिच्छत्त—णवुंसयवेद—णिरयगइ—एइंदिय—बीइदिय—तींदिय—चदुरिंदिय—जादि—हुंडसंठाण—असंपत्तसेवट्टसरीरसंघडण— णिरयगइपोओग्गा— णुपुव्वी— आदाव— थावर— सुहुम अपज्जत्त—साहारणाणं सोलसण्हं पयडीणं बंधस्स मिच्छत्तुदओ कारणं। ध. पु. ७, पृ. १०। गो. क. गा. ६५।

६२. उज्जुसुदस्स णाणावरणीयवेयणा जोगपच्चए पयडिपदेसग्गं ॥१२॥
कसायपच्चए ट्ठिदि—अनुभागवेयणा ॥१३॥ ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सूत्र १२-१३। पृ. २८१ पर गो. क. गा. २५७—जोग पयडि—पदेसे—ट्ठिदि—अणुभागे कसायदो कुणदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है या नहीं ? षटखण्डागम तो कहता है कि जिसने अनन्ताबंधी की विसंयोजना की है वह जीव संयोजना के काल में यदि सीधा मिथ्यात्व में आवे तो उसके मिथ्यात्व के निमित्त से अनन्तानुबंधी का बंध होने पर भी बंधावलि काल तक उदय नहीं होता[६३]। यहां मिथ्यात्व गुणस्थान में जघन्य से कितने प्रत्यय होते हैं ? जघन्य से दस प्रत्यय होते है[६४] । खुलासा इस प्रकार है –

पॉच प्रकार के मिथ्यात्व के भेदों में से एक, किसी भी एक इन्द्रिय से जघन्य से छह काय के जीवों में से एक काय के जीव की विराधना करता है, इसलिए दो प्रत्यय, इसप्रकार से ये असंयम के दो प्रत्यय हुए, अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करके मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर बंधावलि मात्र कालतक अनन्तानुबंधी का उदय न होने से चार कषाय का उदय न होने से ये बारह कषायों में तीन कषाय प्रत्यय, तीन वेदों में से किसी एक वेद का उदय, रति अरति हास्य-शोक इन दो युगलों में से एक युगल, दस योगों में से एक योग, कुल १+२+३+१+२+१ = १० प्रत्यय । इस प्रकार ये सब मिलकर मिथ्यात्व गुणस्थान में एक समय में बंध कराने वाले दस प्रत्यय होते हैं ।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पंचसग्रंह के सप्ततिका प्रकरण गाथा ३६ में लिखा है कि मोहनीय की २२ प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के एक समय में सम्भवतः सभी प्रकृतियों का उदय हो तो १० प्रकृतियों का उदयस्थान होगा । यदि अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना हो जाने से संयोजना के काल में अनन्तानुबंधी-चतुष्क का उदय न हो तो नवप्रकृतिक उदयस्थान होगा[६५] ।

प्राचीन पंचसंग्रह से भी इसी बात का समर्थन होता है[६६] । मिच्छादिट्ठिस्सोदयभंगा अट्ठेव होति जिणभणिया (वही गा. ३२६) । इसी बात का समर्थन जयधवला के अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना २१ प्रकृतिक प्रवेशकभाव से अवस्थित उपशम सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व, वेदक सम्यकत्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सासादन सम्यक्त्व इनमें से एक गुणस्थान को प्राप्त होने के प्रथम समय में प्रकृत स्थान के सम्भव होने का

---

६३. गो. क. गा. ४७८–अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं ।

६४. ध. पु. ८. पृ. २४-२५–मिच्छाइट्ठिसु जहण्णेण दस पच्चया । पंचसु मिच्छेत्तेसु एक्को, एक्केण इंदिएण एक्कं कायं, जहण्णेण विरोहेदि (त्ति) दोण्णि असंजमपच्चया । अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोजिय मिच्छत्तं गयस्स आवलियमेत्तकालमणंताणुबंधिचउक्कस्सु– दयाभावादो बारससु कसाएसु तिण्णि कसायपच्चया । तिसु वेदेसु एक्को । हस्स–रदि–अरदि–सोगोदोसु जुगलेसु एक्कदरं जुगलं जोगेसु एक्को जोगो । एवमेदे सव्वे वि जहण्णेण दस पच्चया (१०) ।

६५. प्रा. पञ्चसंग्रह, गा. ३६ टी. पृ. ३२५ द्वाविंशतिकबन्धके मिथ्यादृष्टौ उत्कृष्टतो दशमोह प्रकृत्युदयाः १० । द्वाविंशतिकबन्धके अनन्तानुबन्ध्युदयरहिते मिथ्यादृष्टौ २२ । नवप्रकृत्युदयाः ।

६६. आवलियमित्तकालं मिच्छत्तं दंसणाहिसंपत्तो । मोहम्मि य अणहीणो पढमे पुण णवोदओ होज्ज ॥ टीका–अनन्तानुबंन्धि–विसंयोजितवेदक सम्यग्दृष्टौ मिथ्यात्वकर्मोदयात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं प्राप्ते आवलिमात्रकालं अनन्तानुबन्ध्युदयो नास्ति, अतो मोहप्रकृतीनां दशकानामुदयः १० अनन्तानुबन्धिरहितो नवप्रकृतीनामुदयो ? मिथ्यादृष्टौ प्रथमे गुणस्थाने भवेत्, गाथा ३०५ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नियम देखा जाता है[६७] । इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियों के बंध के लिए मिथ्यात्वभाव कर्ता और करणरूप कारक बन जाता है । मिथ्यादृष्टि जीव १६ प्रकृतियों को मुख्य रूप से बांधता है इसलिए तो कर्ता कारक है और निमित्त होने में करण कारक है ।

सर्वार्थसिद्धी अध्याय१०सूत्र२ की टीका में "मिथ्यादर्शनादिक हेतुओं" का अभाव होने से नूतन कर्मों का अभाव होता है और पहले कही गयी निर्जरारूप हेतु के मिलने पर अर्जित कर्मों का नाश होता है।इन दोनों से "बंध हेत्वभाव निर्जराभ्याम्" यह हेतु-परकविभक्ति का निर्देश है,

अकिंचित्कर पुस्तक में यह कहा गया है कि "कषाय की अधिकता में संक्लेश परिणामों की उत्कृष्टता होती है, अतः वह ही तीव्र मिथ्यात्व के बंध का कारण है" । परन्तु ऐसा कहने वाला जीव यह भूल जाता है कि कषाय के तीव्र उदय में संक्लेश परिणाम किसके होता है ? मिथ्यात्व के मन्द उदयवाले के या धर्म और पंचपरमेष्ठी की आसादना करने वाले मिथ्यादृष्टि के[६८] ? जबकि अनंतानुबंधी के तीव्र अनुभाग से मिथ्यात्व का तीव्र अनुभाग अनंतगुणा होता है[६९] । इस प्रकार —उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि जिसके मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग की उदय-उदीरणा होगी उसी के उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम होंगे, अन्य के नहीं । यहां मिथ्यात्व गुणस्थान इसीलिये स्वीकार किया है ।

जैसे प्रवचनसार की १६वीं. गाथा में स्वयंभू पद की व्याख्या करते हुए तत्वप्रदीपिका टीकामें निश्चय नय से छह कारक घटित किये गये हैं, उसी प्रकार कर्मबंध के प्रकरण में भी असद्भूत व्यवहारनय से कर्ता आदि छह कारक घटित कर लेना चाहिये । उसमें कोई बाधा नहीं आती। जैसे यह आत्मा मिथ्यात्व परिणाम करने में स्वतंत्र होने से मिथ्यात्व कर्म के बंध करने में समर्थ है, इसलिये यह मिथ्यादृष्टि आत्मा कर्मबंध का कर्ता है । इसी प्रकार कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण भी मिथ्यादृष्टि आत्मा ही है यह घटित कर लेना चाहिए ।

१६ द्रव्यकर्मबंध में मिथ्यात्व करण और अधिकरणकारक भी है

यहां तक मिथ्यात्व, कर्मबंध का कर्ता कैसे है ? इसका आगम प्रमाणों के साथ ही संक्षिप्त रूप से निर्णय किया । अब मिथ्यात्व करणकारक से तथा अधिकरणकारक से किस प्रकार बंध का हेतु है ? इस पर अलग से विचार करना है ।

---

६७. अणांताणुबंधिणो विसंजोइय इगिवीसपवेसयभावेणावट्ठिदस्स उवसमसम्माइट्ठिस्स मिच्छत्त-वेदयसम्मत- सम्मामिच्छत्त- सासणासम्मत्ताणमण्णादरगुणापडिवत्तिपढमसमए पयदट्ठाणसंमवणियमदंसणादो । ज.ध. पु. १०, पृ. ११६-११७

६८. बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कऽस्स तिव्वाओ ।
वासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कऽसंकिलिट्ठस्स ॥१६४॥ गो. क. का.

६९. सव्वतिव्वणुमागं मिच्छत्तं । अणंताणुबंधीलोभो अणंतगुणहीणो । माया विसेस- हीणा । कोधो, विसेसहीणो । माणो विसेसहीणो । ध. पु. १२-वे. प्र. अ. पृ. ६० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षट्खण्डागम वेदना खण्ड के अन्तर्गत प्रत्यय अनुयोगद्वार के मूल सूत्रों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इसलिये यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यहाँ निमित्त परक कथन होने से करण कारक को ध्यान में रखकर सूत्ररचना होना चाहिए थी, अधिकरणकारक में सूत्र रचना कैसे की गई? यह एक शंका है। उसके उत्तर में कहा गया कि अधिकरण कारक में सूत्र रचना होने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यहां प्राणातिपात (आदि) प्रत्ययों के विषय में ज्ञानावरण (आदि) कर्मों का बंध होता है। यहां विषयार्थक सप्तमी विभक्ति ली गई है।

अधिकरणकारक में यह विभक्ति तो बन ही जाती है। साथ में ही उसका करणकारक अर्थ कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारक विवक्षा भेद से घटित हो जाता है। इसलिये यदि शंकाकार को अधिकरणकारक का अर्थ करणकारक रूप अर्थ इष्ट है तो करणकारक रूप अर्थ करना भी बन जाता है। जैसे प्राणातिपात प्रत्यय से ज्ञानावारणादि आठों कर्मों का बंध होता है। इस प्रकार सूत्र का अधिकरणकारक और करणकारकरूप अर्थ करना भी सूत्रकार को इष्ट है वह व्यवस्था बन जाती है[७०]।

इसप्रकार हम जानते हैं कि यहाँ ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतियों का बंध असद्भूत व्यवहारनय का विषय है। यहां जो सात नयों की अपेक्षा कथन दृष्टिगोचर होता है वह सब कथन असद्भूत व्यवहारनय में किस अपेक्षा से क्या कथन किया जायगा उसे ध्यान में रखकर यह कथन वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार में किया गया है। इसीलिए ऋजुसूत्रनय के दो भेद करके अशुद्ध ऋजुसूत्रनय को इस कथन में मुख्यता दी गई है, क्योंकि अशुद्ध ऋजुसूत्रनय यद्यपि स्थूल पर्याय की मुख्यता से कथन करता है पर पर्यायान्तर से उसका अर्थ द्रव्य रूप भी घटित हो जाता है। इसका समर्थन करते हुए वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार सूत्र १४ की टीका में शंका का समाधान करते हुए यह वचन उपलब्ध होता है कि वर्तमान काल सम्बन्धी व्यंजन पर्याय की अपेक्षा जो अवस्थित है और अपने सम्पूर्ण अवयवों को प्राप्त है उसे द्रव्यपना प्राप्त होने में विरोध का अभाव है[७१]।

---

७०. कधं पच्चयस्स सत्तमीए उप्पत्ती? ण पाणादिवादपच्चयविसएणाणावरणीयवेयणा वट्टदि त्ति संबधिज्जमाणेसत्तमीविहत्तीए वइसइयाए उप्पत्तिं पडि विरोहाभावादो। अथवा तइयत्थे सत्तमी दट्ठव्वा। तथा च पाणादिवादपच्चेण णाणावरणीयवेयणा होदि त्ति सिद्धो सुत्तद्ठो। घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. २ टी. मिच्छत्तासंजम–कषाय–पमादुद्ठा वियो वयणकलावो। एदम्हि मुसावादपच्चे मुसावादपच्चएण वा णाणावरणीयवेयणा जायदे। कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतो तेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खओ। वे. प्र. अ. सू. ३, टी.। एदेहि पच्चेहि णाणावरणीयवेयणा समुप्पज्जदो घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. ८ टी.। ततस्तत्र तेषां कारणत्वं घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १३ टी.।

७१. घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १४, टी. –वट्टमाणकालस्स वंजणपज्जाए पडुच्च अवट्ठियस्स सगासेसावयवाणं गदस्स दव्वत्तं पडि विरोहाभावादो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार स्थूल ऋजुसूत्रनय का कथन भी वर्तमान पर्यायों को अविवक्षित कर अनेक पर्यायों में अन्वय रूप द्रव्यपने की अपेक्षा नैगमादि नयों के समान द्रव्यार्थिकनय का भी विषय बन जाता है[७२]।

यद्यपि हमने "बंध का प्रमुख कारण मिथ्यात्व" इस अपेक्षा से जो लेख लिखा था उसमें भी यही दृष्टि थी। उसमें भी यही बतलाना मुख्य था कि पृथ्वी के समान मिथ्यात्व भी मिथ्यात्व गुणस्थान में होने वाली अनेक पर्यायों में होनेवाले बंध का निमित्त है। यह भाव-परिवर्तन के समान है। जैसे भावपरिवर्तन में अनेक योगादि एक स्थितिबंध का कारण हैं उसी प्रकार जितनी मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्यायें होती हैं, उनके होने बाले बंध में यह (मिथ्यात्व) हेतु है। इसलिये पर्यायान्तर से स्थूल ऋजुसूत्रनय के विषय को द्रव्यदृष्टि से कथंचित् नैगमादि नयों का विषय माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं[७३अ]। वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार का विषय भी यही है और इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहुर्त कहा गया है।

सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय में तो कार्य-कारण भाव घटित ही नहीं होता, क्योंकि उसका विषय एक समय की पर्याय मात्र है[७३ब], इसीलिए कार्य-कारणभाव को दृष्टि में रखकर उसकी (स्थूल ऋजुसूत्र मात्र की) चर्चा की गई है ऐसा यहां वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार में समझना चाहिए। अन्यथा जो पर्याय जिस समय होती है वह स्वयं होती है यह सिद्धान्त फलित हो जाता है। इसलिए पर्यायार्थिकनय (सूक्षम ऋजुसूत्रनय) से देखा जाय तो कार्य-कारणभाव का निरास हो जाता है, क्योंकि कार्य-कारणभाव उसका विषय नहीं है। वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है या स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय है।

१७. तत्त्वार्थसूत्र के विवक्षित दो सूत्र-

तत्त्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय में जो प्रथम और द्वितीय क्रमांक वाले दो सूत्र हैं, वे वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार को ध्यान में रखकर भी आचार्य ने निर्मित किये हैं ऐसा उन सूत्रों पर दृष्टि डालने से निश्चित होता है। उनमें से पहला सूत्र नैगम, संग्रह और व्यवहाररूप द्रव्यार्थिक नय के भेदों को ध्यान में रखकर निर्मित हुआ है। और दूसरा

---

७२. एवमेते नयाः पूर्वपूर्व विरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया द्रव्यस्यानन्तशक्तेः प्रतिशक्ति विभिद्यमाना बहुविकल्पा जायन्ते। त एते गुणप्रधानतया परस्परतन्त्राः सम्यग्दर्शनहेतवः—स. सि. अ. १, सू. ३३ टी. पृ. १०४।
एवमयं नयस्तावद्वर्तते यावत्पुनर्नास्ति विभागः। स. सि. अ. १, सू. ३३ टी. पृ. १०२।

७३ अ. सव्वदव्वट्ठियणेसु तिण्णि काला संभवंति, सुणेसु तदविरोहादो। ज. ध. भा. १, पृ. २६१।

७३ ब. ज. ध. भा. १, पृ. २५३,२५४
वंजणपज्जायरुवेण अवट्ठियस्स वत्थुस्स अणेगेसु अत्थ– विंजणापज्जाएसु संचरंतस्स दव्वभावुवलंभादो। वंजणपज्जायविसयस्स उजुसुदस्स बहुकालावट्ठाणं होदि त्ति णासं कणिज्जं। ज. ध. भा. १, पृ. २६३-२६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्र सूक्ष्म और स्थूल के भेद रूप ऋजुसूत्र नय में से स्थूल (अशुद्ध) ऋजुसूत्र नय को ध्यान में रखकर निर्मित हुआ है[७४]। यह दो सूत्रों की रचना का प्रयोजन है।

१८ नयों की अपेक्षा कार्य-कारण भाव

इसमें सन्देह नहीं कि सातों नयों की अपेक्षा वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार में कार्य-कारणभाव का विचार किया गया है। उसमें नैगम, संग्रह और व्यवहारनय से तो प्राणातिपात आदि में द्रव्यकर्म बन्धरूप कार्य के प्रति कारणता स्वीकार की गई है, क्योंकि नैगमनय में प्राणातिपात आदि में कारणता तो इसलिये बन जाती है कि कार्य-कारणभाव आदि उसके विषय है यह नय उपचार को विषय करता है[७५]।

परमार्थ से देखा जाय तो अन्य द्रव्य के साथ आत्मा का या किसी भी अन्य द्रव्य का कोई सम्बंध ही स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि परमार्थ से पर द्रव्य के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं बनता। समयसार और उसके कलश-काव्य पर दृष्टि डालने से इसकी पुष्टि होती है[७६]।

असद्भूत व्यवहारनय को मुख्य कर नैगमनय से देखा जाय तो कार्य-कारणभाव उसका विषय सिद्ध होता है, क्योंकि जो कथन असद्भूत व्यवहारनय से किया जाता है वह उसका विषय बन जाता है। नैगमनय और व्यवहानय में ज्ञानावरणीय (आदि) कर्मों के बंध के प्रत्यय बन जाओ, पर संग्रहनय में कैसे बनेंगे ? इसका समाधान करते हुए वीरसेन आचार्य लिखते हैं कि संग्रहनय को प्रधान करने पर समस्त विशेषों का संग्रह होते हुए भी कार्य-कारण भेद बन जाता है[७७]।

यह तो नैगमादि तीन नयों की अपेक्षा असद्भूत व्यवहारनय से कार्य-कारण भाव कैसे बनता है ? इसका कथन वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में किया गया है। अब ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध कैसे बनता है ? इसका विचार वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार से सूत्र १२ और १३ में तथा उनकी धवला टीका में किया गया है[७८]। इसका विचार करते हुए पर्यायार्थिकनय से एक यह गाथांश भी उद्धृत

---

७४. त. सू. अ. ८ सू. १,२।

७५. यदस्ति न तद द्वयमतिलंघ्य वर्तत इति नेकगमो नैगमः। शब्द-शील-कर्म–कार्य–कारणाधाराधेय–सहचार–मान मेयोन्येय–भूत–भविष्यद्वर्तमानादिकमाश्रित्य स्थितोपचारविषयः। ज. ध. पु. १, पृ. २२१। स.प्रा., गा. ३२१–३२३

७६. नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥ श्लोक स. प्रा.

७७. होदुणाम णाणावरणीयस्स एदे पच्चया णइगम-ववहारेणेसु, ण संगहणे– तत्थ उवसंहारिदासेसकज्जकारणकलावे कारण भेदाणुववत्तीदो १ ण, संगहम्मि पहाणीकयम्मि संगहिदा–सेसविसेसम्हि कज्ज–कारण–भेदुववत्तीदो। ध. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १०. टी.

७८. वे. प्र. अ., पृ. २८८–२८९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया गया है — "जोगा पयडि-पदेसे ट्ठिदि-अणुभागे कसायदो कुणदि"। अर्थात् यह कथन नैगमादि तीन नयों का विषय न होकर भी स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय है, क्योंकि नैगमादि तीन नय द्रव्य की मुख्यता से कार्य-कारण भाव का विचार करने वाले नय हैं और स्थूल ऋजुसूत्रनय पर्याय की मुख्यता से विचार करनेवाला नय है। इतना अवश्य है कि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय में कार्य-कारण भाव नहीं बनता क्योंकि वह (सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय) मात्र एक समयकी पर्याय को ही विषय करता है[७९]। इसीलिये यहाँ व्यंजन पर्याय को मुख्य कर इस दूसरे ऋजुसूत्रनय की रचना की गई है, क्योंकि अनेक पर्यायों के समूह को विवक्षित कर किसी तरह पर्यायार्थिकनय होकर भी उसमें द्रव्य की योजना भी घटित हो जाती है। इसको ध्यान में रखकर इन सूत्रों की रचना की गई है, यह धवला टीका के वचनों से ज्ञात होता है[८०]।

१६. चार प्रकार के बंध और उनके उभय नयों से कारण का विचार :

यहाँ बंध चार प्रकार का है—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। उनमें से द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों से चारों प्रकार का बंध होता है, क्योंकि अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और योग इनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है। इन तीन नयों में इतनी विशेषता है कि इन नयों में प्रकृति आदि सर्वथा भेदों की विवक्षा नहीं की जाती, कथंचित् भेदाभेद की मुख्यता रहती है तथा ऋजुसूत्रनय में कथंचित् भेदों की विवक्षा मुख्य हो जाती है, क्योंकि यह नय भेद-प्रधान कथन करता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि नैगमादि तीन नयों में भेद किये बिना सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही ग्राह्य होती है, और ऋजुसूत्रनय में भी भेद की विवक्षा होने पर भी सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का ही ग्रहण होता है। मात्र उनमें कंथचित् अभेद गौण और कथंचित् भेद की मुख्यता रहती है।

यहाँ अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४ के टिप्पण १० और ११ के अन्तर्गत जितने प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, वे सब ऋजुसूत्रनय को ध्यान में रखकर ही प्रायः उपस्थित किये गये हैं, क्योंकि करणानुयोग आगम में कहीं कथंचितभेद के कथन करने की मुख्यता रहती है। और कहीं कथंचित अभेद से कथन करने की मुख्यता रहती है,

---

७९. स. सि. अ. १, सूत्र ३३ पृ. १०४।

८०. कथं दो चेव पच्चया अट्ठण्णं कम्माणं बत्तीसाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधाणं कारणत्तं पडिवज्जंते ? ण, असुद्धपज्जवट्ठिए उजुसुदे अणंतसत्तिसंजुत्तेगदव्व त्थित्तं पडि विरोहाभावादो। वट्ठमाणकालविसयउजुसुदवत्थुस्स दवणाभावादो। ण तत्थ दव्वमिदि णाणावरणीय णत्थि त्ति वत्ते-ण, वट्टमाणकालस्य वंजणपज्जाए पडुच्च अविट्ठियस्स सगासेसावयवाणं गदस्य पडि विरोहाभावादो। ध. पु. १२—वे. प्र. अ. पृ. २८८-२८९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यथा औघप्ररूपणा नहीं बन सकती। आदेश प्ररूपणा भेद को ध्याम में रखकर कथन करती है[८१]। अभेद से कथन करना यह किसी अपेक्षा से द्रव्यानुयोग का विषय है, क्योंकि उसमें भेद की विवक्षा गौण हो जाती है[८२]।

इसी कथन को अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

यहां तत्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय का पहला सूत्र कथंचित अभेद की मुख्यता से कथन करने वाला है इसलिये वह नैगम, संग्रह और व्यवहारनयों के कथन करने में व्यापृत रहता है, और दूसरा सूत्र ऋजुसूत्रनय से कथन करता है, इसलिये उसमें कषाय और योग की मुख्यता देखी जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि तत्वार्थसूत्र की रचनाओं के पूर्व षट्खण्डागम की रचना हो गई थी।

२०. आप्तपरीक्षा का कथन[८३]

संक्षेप में बंध दो प्रकार का है—भावबंध और द्रव्यबंध। भावबंध क्रोधादिस्वरूप है, उसका हेतु मिथ्यादर्शन है, क्योंकि मिथ्यादर्शन के होनेपर क्रोधादि की उत्पत्ति बनती है और मिथ्यादर्शन के नहीं होने क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं बनती।

शंका :—यहां भावबंध को मिथ्यादर्शन आदि स्वरूप न कहकर क्रोधादि स्वरूप ही क्यों कहा है?

समाधान :—इनमें कार्य-कारण के भेद की मुख्यता होने से मिथ्यादर्शन को भावबंध रूप होने पर उस रूप नहीं कहा है।

शंका :—तो क्या यह समझा जाये कि मिथ्यादर्शन भावबंध रूप भी होता है?

समाधान :—हाँ, मिथ्यादर्शन भावबन्ध स्वरूप तो होता ही है, पर उसमें कारणपना दिखाने के अभिप्राय से उसे भावबंध में गौण कर दिया है। अर्थात् उसका भावबंध रूप से कथन करने की विवक्षा न रहकर कारण रूप से कथन करने की यहां विद्यानन्द

---

८१. गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवोगो वि य कमसो बीसंतु प्ररुपणा मणिदा। संखेवो ओघेत्ति य गुण सण्णा सा च मोहजोगभवः वित्थरादेसोत्तिमगगण सण्णा सकम्मभवा। गो. सा. जी. गा. २-३।

८२. ववहारेण दु एदे जीवस्य हवंति वण्णमादीया। गुणठाणंता भावा ण दुकेई णिच्छयंणयस्स ॥५६॥ एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणोदव्वो। ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥ स. प्र. गा. ५६–५७; तथा नि. सा. गा. ३६–४०–४१–४२–४३–४४–४५–४६–४७–४८–४६–५० पर्यंत।

८३. बन्धो हि संक्षेपतो द्वेधा-भावबन्धो द्रव्यबन्धश्चेति। अथ भावबन्धः क्रोधाद्यात्मकः, बन्धहेतुर्मिथ्यादर्शनम्, तद्भावे भावादभावे चाभावात्। क्वचिदक्रोधादिविषये हि क्रोधादिविषयश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्, तस्य विपरीताभिनिवेशलक्षणस्य सकलास्तिवतसिद्धत्वात्। तस्य च सद्भावे बहिरंगस्य सत्यन्तरंगे द्रव्यक्रोधादिबन्धे भावबन्धस्य भावबन्ध, आ. प. पृ. ४ सद्भावः, सद्भावे चासद्भावः। सिद्धएवेति सम्यग्दर्शन हेतु को–।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य की विवक्षा रही है। इसी प्रकार आगे प्रत्ययों के विषय में यह कथन घटित हो जाता है।

इसलिए क्रोधादि रूप परिणामों के होने में मिथ्यादर्शन परिणाम होना आवश्यक है। इससे हम यह जानते हैं कि मिथ्यादर्शन परिणाम कारण है और उसका कार्य क्रोधादिस्वरूप है। क्योंकि बहिरंग कारण मिथ्यात्व के सद्भाव में और अन्तरंग कारण द्रव्य क्रोधादि के सद्भाव में क्रोधादि रूप भावबंध होता है, और उसके नहीं होने पर नहीं होता है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन भावबंध रूप होकर भी क्रोधादि रूप भावबंध का किसी अपेक्षा से कारण है—यह सिद्ध हो जाता है।

जिसको नियमसार की गाथा ५३ में निमित्त कहा है उसे ही यहां बहिरंग निमित्त कहा है, क्योंकि वह आत्मा के कषायभाव से भिन्न है। भले ही वह एक आश्रय में हुआ हो, पर कषायभाव से मिथ्यात्व भिन्न परिणाम है। कषायभाव क्रोधादि द्रव्यकर्मों के उदय से होता है, इसलिये इसे अन्तरंग कारण में परगणित किया है[८४] क्योंकि मिथ्यात्व तो कषाय भाव के होने में निमित्त मात्र है। वह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में जब होता है तब नियम से कषायभाव पाया जाता है। एक अपवाद अवश्य है कि जब अनन्तानुबंधी चार की विसंयोजना करनेवाला जीव मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है तब उसके एक आवलिकाल तक अनन्तानुबंधी चार का उदय नहीं पाया जाता। कारण का विचार आगे करनेवाले हैं ही।

यहाँ दो क्रोधादि भाव के होने में मिथ्यात्व को बहिरंग कारण कहा है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की विवक्षा में ही कहा है, क्योंकि मिथ्यात्वभाव क्रोधादि भावों से कथंचित् भिन्न है। मिथ्यात्व, मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्म के उदय से होता है और क्रोधादि भाव, क्रोधादि रूप द्रव्यकर्म के उदय से होते हैं, इसलिए उन दोनों के अंतरंगकारण के कारण भी भिन्न हैं और कार्य भी भिन्न हैं। मिथ्यात्व भाव होगा तो पर में राग-द्वेषरूप स्व परिणाम अवश्य होगा, इसलिये क्रोधादि होने में मिथ्यात्वभाव अविनाभावी निमित्त है। मिथ्यात्व न हो तो पर में इष्टानिष्ट बुद्धि परमार्थ से नहीं होती है।

शंका :—यहाँ यह कहा जा सकता है क्रोधादि भाव दूसरे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है, किन्तु इन गुणस्थानों में तो मिथ्यात्व भाव नहीं पाया जाता, इसलिये क्रोधादि भावों के होने में मिथ्यात्व को निमित्त क्यों कहा ?

समाधान :—यह है कि जो क्रोधादिरूप परिणाम एकत्वबुद्धि को लिए हुए मिथ्यात्व गुणस्थान में होते हैं वे अन्यत्र क्यों नहीं होते ? तथा वे कषाय के परिणाम उत्तरोत्तर घटते हुए क्यों होते हैं ? क्या मिथ्यात्व की तीव्रता में मिथ्यात्व गुणस्थान में जो अनन्तानुबंधी कषायपरिणाम होता है वह दूसरे गुणस्थान में सम्भव है ? अर्थात् नहीं संभव है।

---

८४. सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ नि. सा. गा. ५३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंका :—यद्यपि दूसरे गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश अवश्य देखने को मिलता है[८५] पर क्या वह जैसा मिथ्यादृष्टि के होता है वैसा होता है या उससे दूसरे प्रकार का होता है ?

समाधान :—इस प्रश्न का समाधान करते हुए वहीं यह भी लिखा है कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुए विपरीताभिनिवेश का अभाव होने से उसे मिथ्यादृष्टि संज्ञा नहीं दी है, किन्तु सासादन संज्ञा दी है।

इस शंका-समाधान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनन्तानुबंधी के उदय में जो विपरीताभिनिवेश होताहै वह मिथ्यात्व के उदय से होनेवाला विपरीताभिनिवेश नहीं है, दूसरे प्रकार का विपरीताभिनिवेश है। उसे स्वीकार करने में प्रयोजन यह है कि टीका ग्रन्थों में अनन्तानुबंधी को उभयप्रतिबंधी स्वीकार किया गया है, किन्तु मूल में उसे चारित्रावरणीय प्रकृतियों में गिनाया गया है क्योंकि वह मुख्यतया चारित्र का ही प्रतिबंध करती है। सम्यक्त्व का भी वह प्रतिबंध करता है यह कथन इसलिये किया गया है कि उसके उदय होने पर और मिथ्यात्व का उदय न होने पर दूसरा गुणस्थान घटित होता है, यह तर्क से निश्चित होता है। प्रथम गुणस्थान तो मिथ्यात्व के निमित्त से होता है क्योंकि उसके बिना १६ प्रकृतियों का बंध नहीं होता। मिथ्यात्व के उदय में होता है इतना तो है ही, पर मिथ्यात्व ही उनके बंध का निमित्त है[८६]। अन्यथा मिथ्यात्व की प्रत्ययों में गणना नहीं करते। मिथ्यात्व के जो पाँच भेद हैं उनमें से कोई एक उसका कारण है और १६ प्रकृतियों का बंध कार्य है यह जो आगम में स्वीकार किया है वह साभिप्राय से ही स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि यदि मिथ्यात्व को प्रत्ययों में नहीं गिना जाता है तो अविरति, कषाय और योग को भी प्रत्ययों में नहीं गिनना चाहिये[८७]। कर्मबंध को व्यवहारनय से भी स्वयं मान लेना चाहिए। अतः अविरति, कषाय और प्रमाद को प्रत्ययों में गिना गया है तो मिथ्यात्व को भी प्रत्ययों में मानना चाहिए। आगम, आगम है, मिथ्यात्व का प्रत्ययों में निषेध करने से पूरे आगम

---

८५. विपरीताभिनिवेशतोऽसद्दृष्टित्वात्। तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शन चरित्र प्रतिबन्ध्यनन्तानुबन्ध्युदयोत्पादित विपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदय जनित विपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। किमति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। न च दर्शनमोहनीयस्योदयादुपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा सासादनपरिणामः। प्राणिनामुपजायते येन मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत। यस्मात्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चरित्रावरणत्वात्। तस्योभय प्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। सूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्षः। ध. पु. १, पृ. १६४-१६५।

८६. मिच्छत्तस्स सोदएणेव बंधो। ध. पु. ८ पृ. ४४। चदुहि मूलपच्चएहि पंचवंचासणाणासमय उत्तरपच्चएहि दस-अट्ठारस एगसमय जाहण्णुक्कस्स पच्चएहि य मिच्छाइट्ठी एदाओ पयडीं बंधइ। ध. पु. ८ पृ. ४४।

८७. मिच्छत्तासंजय-कसाय-जोगा बंधकारणाणि। ध. पु. ७, पृ. ६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का निषेध हो जाता है। जबकि आगम में असद्भूत व्यवहारनय से मिथ्यात्व अवस्था में नाना जीव और एक जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट १८ और जघन्य दस प्रत्यय स्वीकार किये हैं। तो आगम को मानने वालों को भी उन्हें स्वीकार करना चाहिये। अकिंचित्कर पुस्तक में जो अनन्तानुबंधी पर जोर दिया गया है उसका आगमनुसार कारण बतलाना चाहिए। वहाँ आगम में स्पष्ट कहा है कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बंध का मुख्य कारण मिथ्यात्वोदय है[८८]। अनन्तानुबंधी आदि २५ प्रकृतियों के बंध का मुख्य कारण अनन्तानुबंधी चतुष्क का उदय है। अप्रत्याख्यानावरण आदि १० प्रकृतियों के बंध का मुख्य कारण (गुणस्थान की अपेक्षा) अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदय है[८९]। प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया और लोभ इन ४ प्रकृतियों के बंध का कारण इन्हीं का उदय ही है[९०]। असाता आदि छह प्रकृतियों के बंध का मुख्य कारण प्रमाद ही है। यहाँ प्रमाद का लक्षण करते हुए बतलाया है कि चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है[९१]। वहां देवायु के बंध का भी कषाय ही कारण है, क्योंकि प्रमाद के हेतुभूत कषाय के उदय के अभाव से अप्रमत्त होकर मन्द कषाय के उदयरूप से परिणत हुए जीव के देवायु के बंध का विनाश पाया जाता है।

उसी को धवला टीका में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि मूल ग्रन्थों[९२] में अनन्तानुबंधी ४ सम्यक्त्व का प्रतिबंध करता है यह कैसे नहीं कहा ? उसका समाधान करते हुए धवला टीका में बतलाया है कि प्रधान नय की अपेक्षा मूल सूत्र ग्रन्थों में उस प्रकार का उपदेश नहीं किया गया है। इसका अर्थ है कि मूल सूत्र ग्रन्थ तो मात्र अनन्तानुबंधी ४ को चारित्र का ही प्रतिबंधक कहते हैं[९३]। दूसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व न होने से टीका ग्रन्थों में तर्क से यह निश्चित किया गया है कि अनन्तानुबंधी चार उभयबन्धी प्रकृति है।

२१. आगम में नयों का कथन

आगम में सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहार नयों का कथन दो प्रकार से दृष्टिगोचर होता है, एक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा और दूसरा लौकिक व्यवहार की अपेक्षा। सम्यग्दृष्टि आत्मा के तो भेदविज्ञान की मुख्यता हो जाने से वह आत्मा को ज्ञान दर्शन स्वरूप ही अनुभवता है रागद्वेष व मतिज्ञानादि स्वरूप नहीं, क्योंकि मतिज्ञानादि आत्मा का लक्षण नहीं है। कारण कि, मतिज्ञानादि अरहंतों के तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में

---

८८. ध. पु. पृ. १०।
८९. अप्रत्याख्यानावरण वही, पृ.११।
९०. ध. पु. ७ पृ. ११।
९१. वही पृ. ११।
९२. त. सू. अ. ८ सू. ९।
९३. कषायवेदनीय षोडशविधम् ।कुत ?
अनन्तानुबन्ध्यदि विकल्पात्। स. सि. अ. ८ सू. ९ टी.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा सिद्धों के नहीं पाये जाते हैं[६४]। इसलिए सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कथन करते समय रागादिभाव आत्मा के नहीं हैं वे पुद्गल के परिणाम होने से ज्ञायकस्वरूप आत्मा से भिन्न हैं। एक तो यह दृष्टि है और दूसरी लौकिक दृष्टि है। इसके लिये देखिये पंचाध्यायी और अनगारधर्मामृत[६५]। यहाँ हमने सम्यग्दृष्टि को विवक्षित कर मिथ्यात्व और क्रोधादि भावों को असद्भूत व्यवहारनय का विषय कहा है। यहाँ बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक की विवक्षा नहीं की गई है, इसलिये इस प्रकार का भेद न करके यह कथन किया गया है।

२२. मिथ्यात्व, कषाय के होने में निमित्त है :-

यह हम आप्तपरीक्षा[६६] का उद्धरण देकर स्पष्ट कर आये हैं कि कषाय से मिथ्यात्व का बंध नहीं होता, किन्तु कषाय की उत्पत्ति में मिथ्यात्व अवश्य निमित्त है। देखो, दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी आदि चारों कषायों का बंध और उदय दोनों हैं, पर उस गुणस्थान में न तो मिथ्यात्व का बंध पाया जाता है और न मिथ्यात्व का उदय ही पाया जाता है[६७]। यदि कषायों में मिथ्यात्व का बंध होता तो आगम में उसे दूसरे गुणस्थान में क्यों नहीं स्वीकार किया गया ?

(१) इसी प्रकार अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करनेवाला जीव जब प्रथम गुणस्थान में सीधा आता है तब उसके मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का बंध तो होता है, पर उसके एक आवलि काल तक उदय नहीं पाया जाता, क्योंकि "बंधे संकमदि" इस नियम के अनुसार संक्रमित द्रव्य का आबाधाकाल के ऊपर संक्रमण होता है, क्योंकि बंध को प्राप्त हुई अनन्तानुबंधी की आबाधा के ऊपर निषेक रचना होती है। उसका बन्धावलि काल तक उदयावलि में संक्रमण नहीं हो सकता ऐसा नियम है[६८]।

---

६४. एऐहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो। ण य हुंति तस्स ताणि दु
उवओगागुणाधिगो जम्हा ॥५७॥ तत्थं मवे जीवाणं संसारत्थाण होंति
वण्णादी। संसारयमुक्काणं णात्थि दु वण्णादो केई ॥६१॥
स. प्रा. यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाम
मयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः यस्तत्वा प्रतिरूपो मोह स सर्वोपि नास्ति
जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। आ. ख्या. पृ. १०२, १०३।

६५. पञ्च. पूर्वार्ध, श्लोक ५३४ से लेकर ५५१ तक तथा अन. ध. अ. १. श्लोक १०५ से लेकर १०७ तक।

६६. देखो टिप्पण नं. ८६।

६७. ध. पु. ८ सू. १५/१६ तथा सू. ७-८ एदेहि पच्चएहि मिच्छाइट्ठी सुतुत्तसोलस पयडीओ बंधदि... ध. पु. ८. पृ. २२।

६८. अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोजिय मिच्छत्तं गयस्स आवलियमेत्तकालमणंताणुबंधिचउक्कचक्कस्सुदयाभावादो बारससु कसाएसु तिण्णि कसायपच्चया। ध. पु. ८. पृ. २५। प्राचीन पं.च सं. सप्ततिका गा. ३०५। अणंताणुबंधिणो विसंजोइय इगिवीसपवेसय भावेणावट्ठिदस्स उवसमसम्माइट्ठिस्स मिच्छत्त- वेदयसम्मत- सम्मामिच्छत्त- सासणसम्मत्ताणमण्णदरगुणपडि- वत्तिपढमसमे पयदट्ठाणसंमवणियमदंसणादो। ज. ध. पु. १०, पृ. ११६, पृ. १२५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) दूसरे गुणस्थान में बंध और उदय साथ-साथ होते हैं उसमें सासादन गुणस्थान का माहात्म्य समझना चाहिए। इस गुणस्थान में वृत्तिकार ने इस नियम को नहीं स्वीकार किया है कि बन्धावलिकाल और संक्रमावलिकाल तक बंधे हुए द्रव्य का तथा संक्रमित हुए द्रव्य का आवलिकाल तक उदय और उदीरणा नहीं होती। वृत्तिकार इसे सासादन गुणस्थान का माहात्म्य बतलाते हैं। जबकि अन्यत्र इस नियम को (एक आवलिकाल की) वे स्वीकारते हैं।

(२) मिथ्यात्व गुणस्थान में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबंधी चार के बिना तीन कषाय, मिथ्यात्व, एक वेद और दो युगलों में कोई एक युगल की उदय उदीरणा इसलिये होती है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चार की आवलि काल तक उदय उदीरणा नहीं पाई जाती।

शंका :—यहां यह शंका हो सकती है कि एक आवलि के बाद अनन्तानुबंधी चार में से किसी एक प्रकृति का उदय होता है, या मात्र उदीरणा ही होती रहती है?

समाधान :—शंका ठीक है। एक आवलि के बाद अनन्तानुबंधी चार में से किसी एक प्रकृति की उदय और उदीरणा दोनों होते रहते हैं, क्योंकि एक आवलि के बाद उदयावलि के प्रत्येक निषेक में कर्मद्रव्य पाया जाता है। इसलिये उस द्रव्य का क्रम से उदय होता रहता है और उदयावलि के ऊपर के द्रव्य का अपकर्षणपूर्वक उदय में निक्षिप्त होना उदीरणा है, अतः एक आवलि के बाद उदय और उदीरणा दोनों बन जाते हैं[९९]।

(३) मिथ्यात्व प्रत्ययक बंध उन प्रकृतियों को कहते हैं जिनके बंध में मिथ्यात्व नियम से कारण है[१००], मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर सासादन आदि गुणस्थानों में उनका बंध नहीं होता। इसी प्रकार अन्य प्रत्ययों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। इतना अवश्य है कि दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का और नरकायु आदि का बंध नहीं होता। यदि कषाय ही बंध में मुख्य कारण है, मिथ्यात्व नहीं, तो दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय और उदीरणा तो है, पर मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बंध क्यों नहीं होता? क्योंकि अकिंचित्कर पुस्तक में पृ ६ पर कषाय से ही मिथ्यात्व का बंध कहा है।

(४) जयधवला गाथा १०१ में दर्शनमोहनीय की उपशमना करनेवाले जीवों के मिथ्यात्व प्रथम स्थिति के अन्त समय तक जानना चाहिए तथा यहाँ तक मिथ्यात्व निमित्तक बंध कहा है और यह स्वीकार भी किया है[१०१]। क्योंकि यहां तक वह मिथ्यादृष्टि

---

९९. अपक्कपाचणाए विणा जहाकालजणिदो कम्माणं टिठदिक्खएण जो विवागो सो कम्मोदयोत्तिमण्णदो ज. ध. पु. १०, पृ. १८७, ण च उदयादो उदीरणा एयंतेण पुधमूदाअत्थि, उदयविसेसस्सेव उदीरणाववेसादो ज. ध. पु. १०, पृ. १८८। अपक्वपाचननुदीणा।

१००. मिच्छत्तस्स सोदएणेव बंधो आदि ध. पु. ८. पृ. ४४.
मिच्छत्तपच्चओ खलु बंधो उवसामगस्स बोद्धव्वां। क. पा. गा. १०१।

१०१. मिच्छत्तं पच्चओ कारणं जस्ससो मिच्छत्तपच्चओ खलु परिप्फुडं बंधो दंसण मोहोवसामगस्स जाव पढमट्ठिचरिमसमयो त्ति ताव बोद्धव्वो। केसिं कम्माणं बंधो? मिच्छत्तस्स णणावरणादिसेस कम्माणं च। जइवि एत्थ सेसाणं असंजम-कसाय-जोगाणं पच्चयत्तमत्थि तो वि मिच्छत्तस्सेव पहाणभाव-विवक्खाए एवं परूविदमिदि घेत्तव्वं। ज. ध. मा. १२ गा. १०१ टी. पृ. ३११।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, और इसके मिथ्यात्व का तथा मिथ्यात्व के निमित्त से बंधने वाले अन्य कर्मों का बंध होता रहता है, यदि मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय के बंध का कर्ताकारक और करणकारक न हो तो दर्शनमोहनीय का बंध नहीं होना चाहिए था ?

शंका :—मिथ्यात्व के निमित्त से किन कर्मों का बंध यहां विवक्षित है ?

समाधान :—मिथ्यात्व और ज्ञानावरण आदि शेष कर्मों का बंध यहां विवक्षित है।

यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थान में शेष असंयम, कषाय और योग का प्रत्ययपना है तो भी मिथ्यात्व के ही प्रधानपना की विवक्षा में इस प्रकार कहा है ऐसा ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आगे के गुणस्थानों में मिथ्यात्व की प्रधानता नहीं रहती[१०२]।

(४) जयधवला पु. ४ पृ. २४ पर लिखा है कि जिसने अनन्तानुबंधी चार को निःसत्व कर दिया है उसके मिथ्यात्व अथवा सासादन गुणस्थान को प्राप्त होने के प्रथम समय में ही अनन्तानुबंधी चतुष्क के स्थिति सत्व की उत्पत्ति बन जाती है।

शंका :—असद्रूप अनन्तानुबंधी चतुष्क की मिथ्यात्व में उत्पत्ति कैसे हो जाती है?

समाधान :— नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से कार्मणवर्गणा स्कन्धों के अनन्तानुबंधी चतुष्करूप से परिणमन करने में कोई विरोध नहीं आता है।

शंका :—सासादन गुणस्थान में उसकी सत्ता रूप से उत्पत्ति कैसे हो जाती है ?

समाधान :—सासादन परिणामों से उनकी सत्ता रूप से उत्पत्ति हो जाती है[१०३]।

विशेषार्थ :—जयधवला पुस्तक ४ में उक्त स्थान पर स्थितिविषयक प्रकरण है, क्योंकि स्थितिसत्व तभी बनता है जब प्रकृतिसत्त्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्व ये तीनों हों, और सत्व बन्धपूर्वक बनता है इसलिये ऐसे जीव के चारों प्रकार का बंध स्वयं स्वीकृत हो जाता है।

(२) यदि सम्यक्त्व के साथ अथवा चारित्र के साथ रहने वाले किसी जीव ने अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर दी है तो उसके सासादन गुणस्थान को प्राप्त होने पर उसी समय उसका सत्व और उदय बन जाता है और मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर उसके प्रथम समय में उसका सत्व तो बन जाता है पर एक आवलि काल तक उदय नहीं बनता, इसीलिये इन दोनों गुणस्थानों में आने के पूर्व तक अनन्तानुबंधी चतुष्क की सत्ता नहीं पायी जाती है, क्योंकि उस जीव ने इन गुणस्थानों में आने के पूर्व इनकी विसंयोजना कर दी है।

---

१०२. परिप्फुडं बंधो दंसणमोहोवसामगस्स जाव पढमट्ठिदिचरिमसमयो त्ति ताव बोद्धव्वो। केसिं कम्माणं बंधो ? मिच्छत्तस्स णाणावरणादिसेसकमाणं च। जइ वि एत्थ सेसाणं असंजम-कसाय जोगाणं पच्चयत्तमत्थि तो वि मिच्छत्तस्सेव पहाणभावविवक्खाए एवं परूविदमिदिधेत्तव्वं उवरि मिच्छत्त पच्चयस्साभावपदुप्पायणस्तादो। ज. ध. भा. १२, गा. १०१ टी. पृ. ३११।

१०३. कुदो ? अणंताणुचउक्कं णिस्सेतीकयसम्माइट्ठिणा मिच्छत्ते सासणसम्मत्ते वा पडिवण्णे तस्स पढमसमए येव अणंताणुचुक्ककस्स ट्ठिदिसंतुप्पत्ती दो। कुदो असंत्तस्स अणंताणु चउक्कस्स उप्पत्ती ण, मिच्छत्तोदएण कम्मइयवग्गणक्खंधाणमणंताणुचउक्कसरूवेण परिणमणं पडि विरोहाभावो। सासणे कुदो तेसिं संतुप्पत्ती ? सासणपरिणामावो। ज. ध., पु. ४, पृ. २४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) यदि वह जीव चौथे आदि से गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है तो उसके बंध को प्राप्त होनेवाली सभी प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व प्रत्यय की प्रधानता में होता है, क्योंकि उस गुणस्थान में असंयम, कषाय और योग प्रत्यय तो पाये जाते हैं, पर उनकी मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रधानता नहीं बनती, इस गुणस्थान में मिथ्यात्व की ही प्रधानता रहती है ।

२३. वेदना प्रत्यय अनुयोगद्वार के आधार पर विशेष विचार :-

वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में कर्मबंध के कारणों का, सातों नयों की अपेक्षा विचार किया गया है । उसमें १३वें सूत्र की धवला टीका में कतिपय विशेष बातों का निर्देश करते हुए बतलाया है कि अप्रमत्त संयत आदि के जो बंध होता है उसमें द्रव्यार्थिक नय से होने वाले रात्रिभोजन तक के भाव कारण नहीं है, क्योंकि अप्रमत्त संयत आदि में उनके बिना भी बंध देखा जाता है । क्रोध से लेकर प्रेम तक के भावों से जो कर्मबंध होता है वह अप्रमत्त संयत आदि गुणस्थानों में नहीं बन सकता, क्योंकि उनका कर्मोदय नहीं होने पर भी कर्मबंध देखा जाता है । निदान से लेकर मिथ्यादर्शन तक के भावों से जो कर्मबंध होता है वह उन प्रत्ययों के बिना भी सूक्ष्मसाम्परायिक संयतों में बन जाता है[१०४] । विशेष खुलासा के लिए ग्रन्थ देखिएगा ।

कार्य-कारण भाव के विषय में यह नियम है "जो कार्य जिसके होने पर होता है और जिसके नहीं होने पर नहीं होता, वह उसका कारण है । इसलिये ज्ञानावरणीय कर्म, योग और कषाय से होता है यह सिद्ध हुआ । कहा भी है –

यह संसारी जीव प्रकृति और प्रदेश का बंध योग के निमित्त से करता है तथा स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय के निमित्त से करता है (गो. क. कां. गा. २५७)

शंका :– यदि ऐसा है तो पूर्व में कहे गये तीनों ही द्रव्यार्थिक नयों में प्राणातिपात आदि को कारणता बतलाना कैसे घटित होगी ?

समाधान :– नहीं, क्योंकि उन (प्राणातिपात आदि) के होने पर ज्ञानावरणीय (आदि) कर्मों का बंध उपलब्ध होता है, इसलिये उनमें कारणता बन जाती है ।

कारण, कार्यवाले होते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि घड़े को नहीं बनाते हुए भी कुम्भकार में कुम्भकार का व्यवहार बन जाता है, तथा पर्याय के भेद से वस्तु में भेद नहीं होता, क्योंकि वस्तु से भिन्न पर्याय नहीं होती, क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर समस्त लोकव्यवहार के उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होता है । न्याय की चर्चा लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिए ही की जाती है, क्योंकि लोक-व्यवहार से बहिर्गत न्याय

---

१०४. ध. पु. १२, पृ. २८८-२८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि मानता है तो वह न्यायाभास ही माना जायेगा। इसलिये कर्मबंध में उनकी (प्राणातिपात आदि प्रत्ययों की) नैगमादि नयों से कारणता बन जाती है[१०५]।

इस पूरे कथन का आशय यह है कि प्राणातिपात आदि भाव रूप कारण हो या द्रव्य रूप कारण हो उनमें हर हालत में द्रव्यार्थिक तीनों नयों से कारणता घटित हो जाती है, उसमें बाधा नहीं आती। जैसे कुम्भकार घड़ा बना रहा है तब भी उसे कुम्भकार ही कहा जायेगा और जब अन्य कार्य कर रहा है तब भी उसे कुम्भकार ही कहा जायेगा, क्योंकि कुम्भकार है। उसकी दो अवस्थाएं हैं—एक कुम्भ बनाने की अवस्था और दूसरे कुम्भ नहीं बनाने की अवस्था। फिर भी वह लोकव्यवहार में कुम्भकार ही कहलाता है। वैसे ही संसारी जीव जब मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में रहते हुए प्राणातिपात आदि भावरूप कारणों से द्रव्यकर्म बंध कर रहा है, तब भी वह द्रव्यार्थिक तीनों नयों से कर्मबंध करनेवाला कहा जायेगा और जब अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान वाला हो जाता है तब भी वह द्रव्यार्थिक तीनों नयों से कर्मबंध करनेवाला कहा जायेगा, क्योंकि ऐसा लोकव्यवहार है। जैसे १२वें गुणस्थान तक यथार्थ से ध्यान है। आगे ध्यान न होते हुए भी १३वें-१४वें गुणस्थान में ध्यान का उपचार किया जाता है। उसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए। यह वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार का अभिप्राय है। इसलिए सर्वत्र सातों नयों से कर्मबंध घटित कर लेना चाहिए। यदि कोई एकान्त करता है तो उसकी मिथ्यादृष्टियों में परिगणना की जाती है।

शंका :—यहाँ छठे गुणस्थान तक भाव और द्रव्य दोनों प्रकार से प्राणातिपात आदि प्रत्ययों से द्रव्यकर्मबंध होता है, इसलिये उन गुणस्थानों में पर्यायार्थिक नय अर्थात स्थूल ऋजुसूत्रनय से प्राणातिपात आदि प्रत्ययों से द्रव्यकर्म बंध न कहकर योग और कषाय से इस नय की अपेक्षा द्रव्यकर्म बंध क्यों कहा ? इसका कारण कुछ तो होना चाहिए ? यह एक शंका है।

समाधान :—उसका समाधान करते हुए ११वें और १२वें सूत्रों की धवला टीका में जो हेतु दिया गया है वह जानने योग्य है। उक्त दोनों सूत्रों की टीका में बतलाया है कि योग[१०६] और कषाय[१०७] की वृद्धि और हानि के साथ जैसी द्रव्यकर्मबंध की वृध्दि और हानि देखी जाती है। वैसी प्राणातिपात आदि प्रत्ययों से भी एक ही प्रकार का द्रव्यकर्म उपलब्ध होता हुआ पाया जाता है[१०८]। इसलिये प्राणातिपात आदि प्रत्ययों को स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा घटित न कर द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा घटित किया

---

१०५. ध. पु. १२, पृ. २८९।

१०६. ण च जोगवड्ढि हाणीयो मोत्तूण अण्णेहिंतो णाणावरणीय पदेसग्गस्स वड्ढिं हाणिं वा पेच्छामो। ध. पु. १२—वे प्र. अ., सू. १२ टी.।

१०७. कसाय वड्ढि हाणीहिंतो ट्ठिदि-अणुभागाणं वड्ढि-हाणि दंसणादो। ध. पु. १२—वे. प्र. अ. सू. १३, टी.।

१०८. यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिरा भावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यां स. सि. अ. ८ सू. २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है[१०६] । अथवा जैसे कुम्हार घड़ा बना रहा है तब भी उसे कुम्हार कहा जायेगा और घड़े नहीं बना रहा है तब भी उसे कुम्हार कहा जायेगा । उसी प्रकार जब प्राणातिपात आदि प्रत्ययों से द्रव्यकर्मबंध हो रहा है तब भी उन प्रत्ययों को द्रव्यकर्मबंध करनेवाला कहा जायेगा और जब वे प्रत्यय नहीं है तब भी उन प्रत्ययों से द्रव्यकर्मबंध माना जायेगा, क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का कथन दोनों अवस्थाओं में घटित हो जाता है ।

(१) यहाँ वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार की और कई बातें जानने योग्य हैं । उसके पहले सूत्र में तो यह सिद्ध किया है कि जो भी कार्य होता है वह हेतुपूर्वक ही होता है[११०] । (यह व्यवहार है) ।

(२) दूसरे सूत्र में यह सिद्ध किया है कि प्राणातिपात हिंसा विषयक जीव का व्यापार है और वह पर्याय है, इसलिये वह कारण नहीं हो सकती, क्योंकि पर्याय को एकान्त से कारणपने का विरोध है ? यह शंका है उसका समाधान करते हुए बतलाया है कि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं पायी जाती, इसलिये उसमें कारणता घटित हो जाती है[१११] ।

विभक्ति विषयक समाधान तो हम पहले ही कर आये हैं ।

(३) कर्मबंध शुभ अशुभ परिणामों से होता है, शुद्ध परिणामों से उन दोनों प्रकार के परिणामों का तथा कर्मबंध का निर्मूल रूप से क्षय होता है[११२] ।

(४) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंकवेद और मिथ्यात्व के समूह को मोह कहते हैं । मोह को क्रोधादि में सम्मिलित नहीं करने का कारण है कि मोह अवयवी हैं और क्रोधादिभाव अवयव है । इस प्रकार मोह से मिथ्यात्व और क्रोधादि भावों का कथंचित् भेद बन जाता है[११३] ।

(५) मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम आदि का अकारण निदान होता है, इसलिये उसे अलग से गिनाया है[११४] ।

(६) मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व को मिथ्यात्व में सम्मिलित कर लिया है ।

---

१०६. मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बंधहेतवो भवन्ति. स. सि. अ. ८ सू. १ टीका ।

११०. कज्जं पि सव्वं सहेउअं चेव, णिक्कारणस्स कज्जस्स अणुवलंभादो घ. पु. १२–प्र. अ. सू. १ ।

१११. णाणादिवादो णाम हिंसाविसय जीववावारो । सो च पज्जाओ । तदो ण सो कारणं, पज्जायस्स एयंतस्स कारणत्तविरोहादो त्ति ·? ण, पज्जायस्स पहाणीमूदस्स आयच्छियपखक्खस्स कारणतुवलंमादो । घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. २ टी. ।

११२. कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामे हिंतो जायदे, सुद्धपरिणामेहिंतोतेसिं दोण्णं पि णिम्मूलक्खो । घ. पु. १२–प्र. अ. सू. ३, टी. ।

११३. क्रोध–मान–माया–लोभ–हास्य–रत्यरति–शोक-भय–जुगुप्सा–स्त्री–पुं–नपुंसकवेद–मिथ्यात्वानां समूहो मोहः । मोहपच्चयो कोहादिसु पविसदि त्ति किण्णावणिज्जदे ? ण, अवयवावयवीणं वदिरेगण्णयसरूवाणमेणगेग संखाणं कारण-कज्जाणं एगाणेग–सहावाणमेगत्तविरोहादो । घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. ८ टी.

११४. मिच्छत्त– कोह– माण– माया– लोभ– राग– दोस– मोह– पेम्मादिमूलो अणंतसंसारकारणोणिदाणपच्चो त्ति जाणावणट्ठं पुध सुतारंभो कदो । घ. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. ६ टी. ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान माया और मोष इनको मिलाकर कषायप्रत्यय कहा गया है[११५]।

धवला टीका के इन वचनों से मालूम पड़ता है कि कषाय प्रत्यय से कहीं-कहीं मिथ्यात्व ग्रहण किया गया है तो उससे आगम में कोई दोष नहीं पैदा होता। जैसे कषाय प्राभृत के अनुसार कषाय की प्ररूपणा में मिथ्यात्व को भी गर्भित कर लिया है और जैसे पं. प्रवर टोडरमलजी ने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में कषाय कहने से मिथ्यात्व का भी ग्रहण हो जाता है यह स्वीकार किया है। उद्धरण इस प्रकार है –

मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है। उन सबका नाम सामान्यतः कषाय है। मो. मा. प्रका. अनुभाग बं. प्र. पृ. २७ दूसरा अधिकार। दिल्ली से प्राकशित में ३४ पृ. पर है।

शब्दनय के तीन भेद हैं–शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। पर इन तीन नयों से ज्ञानावरणीय आदि के बंध का कारण क्या है ? यह पृच्छा होने पर आचार्य वीरसेन कहते हैं कि इन शब्दनयों की अपेक्षा यह नहीं कहा जा सकता कि इन कर्मों के बंध का कारण क्या है। इसलिये यह कथन अवक्तव्य है[११६]।

इस प्रकार सात नयों में कौन नय का क्या विषय है इसका विचार किया।

२४. तदनुबन्धिनो का अर्थ :-

अनुबंध का अर्थ होता है Agreement। जैसे, मेरा इस बैंक के साथ अनुबंध है। तत्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है[११७] कि अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त है। तथा जो कषाय अनंत की अनुबंधी है अर्थात् बीजाकुंर न्याय से प्रवृत्ति कराने में निमित्त है वह अनन्तानुबंधी है, वासनाकाल भी अनन्तानुबंधी का अधिक से अधिक अनन्त काल तक बना रह सकता है, अतः वे अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ हैं[११८]।

यहाँ मिथ्यादर्शन को अनन्त इसलिए कहा गया है कि वह अनन्त संसार का कारण है। बीजांकुर न्याय से वही स्थिति अनन्तानुबंधी की भी है, क्योंकि उसका वासनाकाल अधिक से अधिक अनन्त काल तक देखा जाता है[११९]।

---

११५. कोध–माण–माया–लोभ–राग–दोस–मोह–पेम्म–णिदाण–अब्भक्खाण–कलह–पेसुण्णरदि–अरदि–उवहि–णियदि–माण–माय–मोसेहि कसायपच्चओ परूविदो ॥ ध. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १० टी.।

११६. तेण तिण्णं सद्दणयाणं णाणावरणीयवेयणापच्चओ अवत्तव्वो ध. पु. १२–वे. प्र. अ. सू. १५ टी.।

११७. तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोध मान माया लोभः। स. सि. अ. ८ सू. ६।

११८. अनन्तानुबन्धिनाम्-अनन्तं संसारमनुबध्नन्ति बीजांकुरन्यायेन प्रवर्तयन्ति तच्छीलास्तेऽनन्तानुबन्धिनः तेषाम्। अन. धर्मा. अ. २, श्लो. ५१ पृ. १२५।

११९. अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतमवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥४६॥ गो. क. पृ. २५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ 'तत्' पद से अनन्त का ग्रहण हुआ है, क्योंकि जैसे मिथ्यादर्शन निमित्तपने की अपेक्षा अनन्त संसार का कारण है, अपने वासना काल की अपेक्षा वही स्थिति अनन्तानुबंधी की भी है। यह बीजांकुर न्याय से प्रवृत्ति कराने में निमित्त है। इसी को "वासनाकाल" इन शब्दों में व्यक्त किया है। जीव के कषाय होने में अन्तरंग कारण कषाय का उदय तो होगा ही, बहिरंग कारण मिथ्यात्व रूप परिणाम भी होगा, वह परिणाम भी मिथ्यात्व के उदय होने का फल है। मिथ्यात्व का उदय न हो और अतत्त्व श्रद्धान हो जाय यह नहीं हो सकता। "तत्कृतः क्रोधादि परिणाम वशीकृतो भावबंधः" तत्वार्थवार्तिक के इस उल्लेख से मालूम पड़ता है कि क्रोधादि रूप परिणाम को ही अकिंचित्कर पुस्तक में भावबंध माना गया है, क्योंकि इसमें मोहरूप मिथ्यात्व का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे ऐसा तो मालूम पड़ता है कि, इसके अनुसार अकिंचित्कर पुस्तक मिथ्यात्व को भाव प्रत्ययों में गणना नहीं करना चाहता। किन्तु आगमों में मिथ्यात्व की भाव प्रत्ययों में गणना की गई है।

अकिं. पु. पृ. ८ पर उद्धरण है कि –तत्वार्थसूत्र की विभिन्न टीकाओं में यद्यपि यह कहा गया है कि "अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्" अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है और "तदनुबंधितः क्रोध-मान-माया-लोभः" इस अनन्त मिथ्यात्व को बांधने वाली कषाय अनन्तानुबंधी है"।

यहाँ हम पूछते हैं कि इस कथन में 'अनन्त मिथ्यात्व' रूप अनुवाद कैसे कर लिया, जबकि अनुवाद होता है 'अनन्त'। मिथ्यात्व अनन्त है। अनन्तानुबंधी भी वासना काल की अपेक्षा अनन्तसंसार का कारण होने से अनन्त है।

'तदनुबंधिनः' का अकिं. पुस्तक में अनन्त मिथ्यात्व को बांधने वाली कषाय अनन्तानुबंधी है यह अर्थ किया है जबकि इसका अर्थ होता है कि अनन्त का अनुसरण करने वाली अर्थात् अनन्त की अविनाभाविनी कषाय अनन्तानुबंधी है या अनन्त की अनुबंधिनी कषाय अनन्तानुबंधी है। दोनों पदों का अर्थ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि 'तद्' पद से अनन्त का ग्रहण होता है, न कि मिथ्यात्व का। अनन्तानुबंधी का वासना काल भी अधिक से अधिक अनन्त काल तक होता है या बीजांकुर न्याय से उसका अनुबंध (Agreement) अनन्त काल तक चला जाता है।

अकिं. पु. पृ. ११ "तदनुबंधिनों" पद-----कर्त्तापने का सूचक है।-----यदि कर्मवाच्य या भाववाच्य का प्रयोग होता भी, तो वहां अर्थ "बांधी जाती" होता और ऐसी अवस्था में पुनः प्रश्न हो जाता 'किसके द्वारा बांधी जाती है'? तब कहा जाता मिथ्यात्व के द्वारा। लेकिन ऐसा भी सम्भव नहीं क्योंकि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व केउदय में बंधने वाली मात्र सोलह प्रकृतियाँ ही हैं। अब यदि अनन्तानुबंधी की चार और जुड़ जायें तो संख्या बढ़कर बीस हो जाएगी जो कि इष्ट नहीं। यदि कदाचित कहो कि मिथ्यात्व के साथ ही उसका बंध होता है, तो द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व के अभाव में अनंतानुबंधी के बंध का अभाव हो जायेगा जब कि अनंतानुबंधी का बंध होता है तथा स्वीकार भी है"।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—यह है कि तदनुबंधिनो यह पद कर्तृवाच्य के अर्थ में कर्त्तापने का सूचक तो है परन्तु कर्मवाच्य में कर्मपने का भी सूचक हो जाता है। इससे (आगम में) कोई आपत्ति नहीं दिखाई गई है।

यदि कहा जाय कि कर्मवाच्य रूप अर्थ करने पर मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व के द्वारा ही जिन १६ प्रकृतियों का बंध होता है उसमें अनन्तानुबंधी चार को मिलाने पर २० हो जायेंगी, तो भी आपत्ति नहीं है क्योंकि नाना जीवों की अपेक्षा मिथ्यात्व में उसके द्वारा बंधने वाली प्रकृतियो में १६ के स्थान पर ११७ प्रकृतियाँ है और उसमें अनन्तानुबंधी ४ भी सम्मलित हैं, इतनी विशेषता है जिन १६ प्रकृतियाँ के बंध में कारण मिथ्यात्व ही है और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन ११७ प्रकृतियाँ का बंध होता है उनके बंध में मिथ्यात्व सहित पाँचों ही कारण हैं[१२०] । फिर भी इतना विशेष जानना चाहिये कि उत्कृष्ट स्थितिबंध और अनुभागबंध के लिये मिथ्यात्व का उदय होना आवश्यक है । कषाय की अधिकता उसमें तभी कारण हो सकती है जब यह जीव पंचपरमेष्ठी की आसादना रूप मिथ्यात्व परिणामों से परिणमे । अन्यथा कषाय की अधिकता बन नहीं सकती । मिथ्यात्वी जीव दूसरे गुणस्थान में जाता ही नहीं, क्योंकि दूसरा गुणस्थान गिरते समय ही होता है ।

अकिं. पु. पृ. ११ पर लिखा है कि "दूसरे" अनुबंधिनः पद में 'अनु' का अर्थ यदि पश्चात् किया जायेगा तब भी अर्थ स्पष्ट व शुद्ध नहीं होगा। मिथ्यात्व का उदय पहले, 'बाद में अनन्तानुबंधी का बंध' तो जो यहां बंधकाल में होने वाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक समयवर्ती ही होना चाहिए था, वह नाना समयवर्ती हो जायगा । किन्तु वह इष्ट नहीं है । इन सबसे स्पष्ट है कि वहाँ "बांधती है" यह अर्थ ही संगत होगा ।

समाधान :—"अनु" शब्द का अर्थ पश्चात् किसी भी आचार्यों की टीकाओं में नहीं लिया है । यहाँ हमें इतना ही कहना है कि उदय और बन्ध एक समयवर्ती-पना बन जाता है। देखो ! जिस समय मिथ्यात्व का उदय हो उसी समय नाना जीवों की अपेक्षा मिथ्यात्व सहित १६ प्रकृतियाँ का बन्ध या ११७ प्रकृतियाँ का बंध बन जाता है । उक्त कथन से मिथ्यात्व का उदय पहले, बाद में अनन्तानुबंधी का बन्ध, अकिंचित्कर पुस्तक का यह कहना भी नहीं सिद्ध होता । निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एक ही समय में बन जाता है। दो समय उसके लिये नहीं चाहिये, क्योंकि यहाँ पर 'पहले-पश्चात्' का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता

तत्वार्थवृत्तिकार ने अनुबध्नन्ति, सम्बन्धयन्ति या गोम्मटसार की टीका में "अनुबंध्नन्ति, सुघटयन्ति" कहा है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ पर

---

१२०. मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति । स सि. अ. ८, १ टी. ; तथा जठारान्याशयात् जठराग्निवशात् मिथ्यादर्शनाद्यावेशात् मिथ्यादर्शनाद्याग्रहात् आर्दीकृतस्य सकषायीकृतस्य । अविभागेन एकाधारेण, श्रीप्रभाचन्द्र विरचित तत्त्वार्थवृत्तिपदम् । ३६३, पृ. ४२२ तथा शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस-शुभपरिणामनिराकृतफलदान सामर्थ्यम् शुद्धस्वरसं ईषत्प्रक्षालितसामर्थ्यम् । पृ. ३००, वही ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"बांधती हैं" यह अर्थ तो किया नहीं, इसलिये वाक्य में "अनुबध्नन्ति" यह क्रिया हो गई, अनन्तानुबन्धी कर्त्ता और मिथ्यात्व कर्म इस तरह कर्त्तृवाच्य के इस प्रयोग से दर्पणवत् स्पष्ट हुआ कि मिथ्यात्व को बांधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी ही है। अकिं. पु. पृ. १२।

इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मिथ्यात्व को कर्म और अनंतानुबंधी को कर्ता ठहराने के लिए अकिंचित्कर पुस्तक का यह द्राविड़ी प्राणायाम है, जो विफल हो जाना है। इसीलिए कर्मवाच्य और भाववाच्य को अकिंचित्कर पुस्तक में नहीं स्वीकार किया गया। कत्तृवाच्य को ही स्वीकार किया गया।

अकिं. पु. पृ. १२में लिखा है कि "यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि अगर मिथ्यात्व को बांधने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी है ? जब स्वयं अनंतानुबंधी की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोटाकोटि सागर है तब उसके द्वारा मिथ्यात्व में उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरकी कैसे संभव है ? उसके द्वारा भैया इतना तो निश्चित है कि आगम में आचार्यों ने स्थितिबन्ध कषाय के द्वारा ही स्वीकार किया है।.... सभी ने कषाय के द्वारा ही स्थितिबंध माना है। मिथ्यात्व के द्वारा भी स्थितिबंध होता है ऐसा मुझे एक भी जगह आगम में देखने में नहीं आया, यदि मिले तो अवश्य दिखाईयेगा।"

समाधान :—यह है कि न तो अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यात्व का बन्ध कराती है और न मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व का बन्ध रोकती है। देखो ! अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाला जीव सीधा मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, तब तक एक आवलि तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता फिर भी उस काल में मिथ्यात्व का बंध होता है। इसलिए अनंतानुबंधी ने मिथ्यात्व का बंध कराया यह कथन आगम में तो कहीं देखने में नहीं आया और न ऐसा आगम है।

स्थितिबन्ध कषाय के द्वारा स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ही स्वीकार किया गया है, पर एक मात्र स्थूल ऋजुसूत्रनय ही तो आगम में है नहीं, इसके अतिरिक्त सूक्ष्मऋजुसूत्र नय के साथ छह नय और भी हैं। उनसे भी कथन करना था। मात्र स्थूल ऋजुसूत्रनय को आगे करके कथन करना ठीक नहीं प्रतीत होता है। इसलिए ही शास्त्रकारों ने सात नय स्वीकार किये हैं। प्रकृत में, जिन आचार्यों का अकिंचित्कर पुस्तक में उल्लेख किया गया है उनमें नैगमादि सात नयों के मानने में कोई मत भेद हो तो उसका उल्लेख प्रकृत में किया जाना था।

२५. मिथ्यात्व भी स्थिति और अनुभाग बंध में निमित्त है-

पंचास्तिकाय गा. १४८ की श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका में द्रष्टव्य है, वहाँ कहा है –

भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ।। १४८ ।।

भावनिमित्तो बंधो भावो निमित्तो भवति। स कः स्थित्यानुभाग बन्धः भावः कथ्यते। भावो रदिरागदोसमोहजुदो । रागादिदोष रहित चैतन्य प्रकाश परिणतेः पृथक्त्वादिकषायादि दर्शनचारित्रमोहनीय त्रीणि । द्वादश भेदात् पृथग्भूतो भावो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रतिरागद्वेषमोह युक्तः । अत्र रति शब्देन हास्याविनाभाविनोकषायान्तर्भूता रतिर्ग्राह्मा । रागशब्देन तु मायालोभ-रूपो रागपरिणाम इति, द्वेषशब्देन तु क्रोधमानरतिशोकभय जुगुप्सरूपो द्वेषपरिणामो षटप्रकारो भवति । मोहशब्देन दर्शनमोहो गृह्मते इति ।

अर्थ –भाव के निमित्त से बंध होता है। वह कौन सा बंध ? स्थिति-अनुभाग बन्ध भाव को कहते हैं। भाव अर्थात् रति, राग, द्वेष, मोह युक्त। रागादि दोष से रहित चैतन्य प्रकाश रूप परिणति से पृथक् कषायादि दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय (कषाय-नोकषाय मोहनीय) तीनों हैं। बारह भेदों से पृथकभूत भाव रति, राग, द्वेष, मोह युक्त है। यहाँ रति शब्द से हास्य की अविनाभावी नोकषाय के अन्तर्भूत रति का ग्रहण है और राग शब्द से माया, लोभ रूप राग परिणाम और द्वेष शब्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप छह प्रकार का द्वेष परिणाम होता है। मोह शब्द से दर्शनमोह (मिथ्यात्व) का ग्रहण किया गया है। मूलाचार उत्तरार्ध में भी स्थिति-अनुभाग बंध में मिथ्यात्व को निमित्त कहा गया है :

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोह जुदो ।। ६६८ ।।

टीका :– कर्मणो ग्रहणं योगनिमित्तं योगहेतुकं, योगः प्रकृतिबंध प्रदेशबन्ध च करोतीति । अथ को योग इत्याशंकायामाह योगश्च मनोवचनकायेभ्य सम्भूतो मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाक्प्रदेशपरिस्पन्दः कायप्रदेशपरिस्पन्दः मनोवाक्कायकर्म योग इति वचनात् । भावनिमित्तो भाव हेतुको बन्ध संश्लेषः स्थित्यानुभागरूपः स्थित्यानुभागौ कषायात् इति वचनात् । अथ को भाव इति प्रश्ने भावोरतिराग द्वेषमोह युक्तो मिथ्यात्वासंयमकषाया इत्यर्थ इति ।

गाथार्थ :– कर्मों का ग्रहण योग के कारण होता है। वह योग प्रकृतिबंध और प्रदेशबन्ध करता है। वह योग क्या है ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं वह योग मन वचन और काय से उत्पन्न होता है, अर्थात् मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन, वचनयोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन और काययोग से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होना योग है। मन-बचन-काय के कर्म का नाम योग है। ऐसा सूत्रकार का वचन है। भाव के निमित्त से बंध अर्थात् आत्मा के साथ संश्लेष-सम्बन्ध होता है जो स्थिति और अनुभाग रूप है।

"स्थिति और अनुभाग कषाय से होते हैं।" ऐसा वचन है। भाव क्या है ? रति, राग-द्वेष और मोह युक्त परिणाम भाव कहलाते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व, असंयम और कषायभाव स्थितिबंध और अनुभागबंध के कारण हैं। यह मूलाचार उत्तरार्ध ६६८ गा. टी. सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य वसुनन्दी कृत पृ. १४६ में कहा है।

अकिं. पु. पृ. १५ में कहा है–"प्रथम गुणस्थान में अनंतानुबन्धी अपने तीव्रोदय में मिथ्यात्व में सत्तर कोटाकोटि सागर की उत्कृष्ट स्थिति डालने की क्षमता रखती है, अन्य कोई सक्षम नहीं। इसकी पुष्टि के लिए मां का और व्यापारी का दृष्टांत दिया है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—मैं पूछता हूँ कि अनंतानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला उपशम या वेदकसम्यग्दृष्टि के प्रथम गुणस्थान में आने पर एक आवली काल पर्यंत अनंतानुबन्धी का उदय नहीं होता, तब वहां मिथ्यात्व में स्थिति अनुभाग बन्ध कौन डालता है ? और वह मिथ्यात्वी प्रथम समय में ही हीनाधिक बंध करता है सो कौन कराता है ?

कितनी ही मातायें ऐसी भी तो होती हैं कि स्वयं तो खूब खाती है और सगा पुत्र एवं परिवार वाले भूखों मर जाते हैं, चाहे सारा भोजन जल जाये, सड़जाये, कुत्ते, बिल्ली खा जाये परन्तु परिवार जनों को एक दाना भी नहीं देतीं। तथा कितने भी व्यापारी ऐसे भी तो देखने में आते हैं कि करोड़ों रूपये नगद व्यापार में लगाये लेकिन अंत में दिवालिया हो जाते हैं। (अरे प्रत्यक्ष की बात बम्बई में ज्वेलरी बाजार का सबसे बड़ा ज्वेलर और सबसे बड़ा पैसे वाला भीख मांगते हुए देखा है) इससे अकिंचित्कर पुस्तक का ये कथन कि अनंतानुबंधी का तीव्रोदय मिथ्यात्व में सत्तर कोटाकोटि सागर की स्थिति बंध करने में सक्षम है खंडित हो जाता है। अकिंचित्कर पुस्तक को इतने निम्नस्तर पर उतरकर विपरीत दृष्टांत देकर सिद्धान्त का अपलाप करना लांछन की बात है, तथा आगम में से यह स्पष्ट बतलाइयेगा कि अनंतानुबंधी का तीव्रोदय मिथ्यात्व में सत्तर कोटाकोटि सागर की स्थिति डालती है ? भले ही वह अपने में चालीस कोटाकोटि सागर की स्थिति क्यों न डालती हो परन्तु मिथ्यात्व में ७० कोटाकोटि सागर की डालती ही है।

२६. इस सम्बन्ध के दूसरे प्रश्न और उनका समाधान

(१) दर्शनमोहनीय में चारित्रमोहनीय के भेदरूप अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ को क्यों सम्मिलित नहीं किया ?

(२) चारित्र मोहनीय की सब प्रकृतियों में दर्शनमोहनीय का संक्रम क्यों नहीं होता?

(३) मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध क्यों होता है, अन्य गुणस्थानों में क्यों नहीं होता ?

(४) कषाय के उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम से ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध क्यों होता है ?

(५) कषाय का उत्कृष्ट परिणाम अन्य गुणस्थानों में क्यों नहीं होता ? मिथ्यात्व गुणस्थान में ही क्यों होता है ?

इस प्रकार ये पाँच प्रश्न हैं जिनके उत्तर से संभव है कि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिबंध में मिथ्यात्व की कर्ता और करणरूप कारणता सिद्ध हो जाये ?

यहाँ यह बात विशेष रूप से जान लेना चाहिए कि जो समुच्चयरूप कर्मों के उदय-उदीरणा का कार्य है, वह प्रमुखता की अपेक्षा विवक्षा भेद से एक का भी कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है, और विवक्षाभेद से अनेक का भी कहा जाता है। जैसे इन्द्रिय सुख का कारण साता वेदनीय की उदय-उदीरणा को कहा जाता है तो क्या सातावेदनीय की मात्र उदय-उदीरणा से इन्द्रिय सुख बन जायेगा, या दूसरे कर्मों के उदय-उदीरणा की इन्द्रिय सुख में अपेक्षा रहेगी ?

यदि कहा जाये कि, इन्द्रियसुख को प्राप्त होने में केवल साता वेदनीय की उदय-उदीरणा ही अपेक्षित है अन्य कर्मों की उदय-उदीरणा से इन्द्रिय सुख की प्राप्ति का कोई प्रयोजन नहीं है तो जैसे मिथ्यादृष्टि को इन्द्रिय सुख की अपेक्षा रहती है वैसे चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान वालो को क्यों नहीं रहती ?

यदि कहो कि वह सम्यग्दृष्टि और संयमी हो गया है, इसलिये वह मात्र संयम की अपेक्षा शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिए आहार-पानी ग्रहण करता है, इन्द्रिय-सुख के लिये नहीं। तो इससे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियसुख में मोहनीय कर्म आयुकर्म और नामकर्म की उदय-उदीरणा भी निमित्त है। इसलिये निर्णीत हो जाता है कि इन्द्रिय सुख में निमित्त सातावेदनीय के समान अन्य कर्म भी निमित्त हैं। कर्म के कार्यों में कोई कर्त्ता रूप से निमित्त होते हैं और कोई करणरूप से निमित्त होते हैं। जैसे घड़े के बनाने में कुम्हार कर्त्ता रूप से निमित्त है और चक्र आदि करण निमित्त हैं। वैसे ही मिथ्यात्व भावके होने में मिथ्यात्व कर्म की उदय-उदीरणा अनुपचरितअसद्भूत व्यवहारनयसेकर्त्तानिमित्त है तथा चारित्रमोहनीय आदिकर्मों की उदय-उदीरणा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कारण आदि निमित्त हैं।इसप्रकार कर्मों की उदय-उदीरणा के रहते हुए जो कार्य होता है उसमें समुच्चयरूप से अनेक कर्मों की उदय-उदीरणापूर्वक अनेक प्रकार के परिणाम निमित्त होते हैं।

यद्यपि कर्मशास्त्र में मुख्यता से भावकर्म के होने में तथा शरीर और उसके अंगोपांग आदि के होने में एक कर्म की उदय-उदीरणा निमित्त कही गयी है, पर वह कर्म जब-जब होता है तब-तब उसके होने में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक अनेक निमित्त स्वीकार किये गये हैं।

इस प्रकार प्रकृत में प्रसंग प्राप्त कारण पूर्वक होनेवाले कार्यों का विचार कर इस प्रकरण में जब जो शंकाएं उपस्थित कर आये हैं उनका क्रम से समाधान करते हैं।

(१) जैसे आठों कर्मों की अकर्मरूप वर्गणायें तथा उनमें से प्रत्येक आयुकर्म की अकर्मवर्गणायें भिन्न-भिन्न जाति की हैं, वैसे दर्शनमोहनीय की वर्गणायें भी भिन्न जाति की हैं और चारित्रमोहनीय की वर्गणायें भी भिन्न जाति की हैं। इसलिये तो उनका परस्पर संक्रम नहीं होता, ऐसा वस्तुस्वभाव है।

यतः सूत्रकारों ने अनन्तानुबंधी चारको चारित्र मोहनीय में परिगणित किया है, दर्शनमोहनीय में नहीं, इसलिये अनन्तानुबंधी चार को दर्शनमोहनीय में संक्रमित नहीं किया[१२१]।

---

१२१. दंसण चारित्रमोहणीयपयडीणमण्णो पेक्खिऊण पडिग्गहत्तामावो।
ज. घ. पु. ८ पृ. २१॥ दंसणमोहणीयं चरित्तमोहणीएण संकमइ। चरित्रमोहणीयं पि दंसणमोहणीएण संकमइ। कुदो ? भिण्णयजादित्तादो। ज. घ. पु. ८ पृ. ३३.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना अवश्य है कि अनन्तानुबंधी चार का चारित्र मोहनीय के बंधनेवाले अन्य भेदों में संक्रम हो जाता है। क्योंकि ये सब चारित्र मोहनीय की प्रकृतियां समान जाति की हैं[१२२], और संक्रमण हमेशा स्वजाति प्रकृतिओं में ही होता है।

(२) शंका :—एक के समाधान से ही इस दूसरी शंका का समाधान हो जाता है।

(३) मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध क्यों होता है? इसका कुछ कारण तो होना चाहिए? कारण के बिना कार्य माना जाय तो उसका स्थितिबंध और अनुभाग बन्ध चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों के भी प्राप्त हो जाने का प्रसंग आयेगा। जो कि आगम को मान्य नहीं हैं। क्योंकि जो सत् होकर कारण के बिना होता है वह नित्य होता है। इसलिए कार्य हो और उसका कारण न हो यह तो नहीं हो सकता[१२३]।

शंका :—यदि कहा जाये कि मिथ्यात्व के रहते हुए मिथ्यात्व का स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है इसलिये मिथ्यात्व अधिकरण हुआ। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के कारण बन्ध हुआ यह कैसे कहा जा सकता है?

समाधान :—यदि सासादन आदि गुणस्थानों में भी मिथ्यात्व का उक्त दोनों प्रकार का बन्ध बन जाता तब तो यह कहना भी युक्त होता कि मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबंध और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध कैसे होता है? परन्तु अन्य गुणस्थानों में नहीं होता, इसलिये मिथ्यात्व ही उन दोनों प्रकार के बन्ध का कर्त्ता और करणकारक सिद्ध होता है, केवल अधिकरण कारक ही नहीं सिद्ध होता। यदि यह भी कहें कि मिथ्यात्व का चारों प्रकार का बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के कारण ही होता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

यह हम पहले ही बतला आये हैं कि, केवल उत्कृष्ट कषाय मात्र मिथ्यात्व के उक्त दोनों प्रकार के बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु देव, शास्त्र, गुरू की आसादनारूप मिथ्यात्व भी उनके बंध का कारण है[१२४]।

शंका :—यदि कहा जाये कि क्रमांक टिप्पण १३४ में तो तीर्थंकर आदि की आसादणा लक्षण मिथ्यात्व के बिना तीव्र कषाय नहीं होती यह कहा गया है। आपने उस पर से सच्चे देव, शास्त्र और गुरू को कैसे फलित कर लिया?

समाधान :—उक्त धवला पुस्तक १०, पृ. ४३ में "तीर्थंकर आदि" पद आया है उससे सच्चे देव, गुरू और शास्त्र का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि तीर्थंकर पद से सच्चे देव और गुरू का ग्रहण तो हो ही जाता है। उनके वचनरूप से शास्त्र का भी ग्रहण

---

१२२. अणंताणुवंधी जत्तियाओबज्झंति चरित्रमोहणीयपयडीओ तासु सव्वासु संकमइ। कुदो? समाणजाईयत्तं पडि भेदाभावादो। ज. ध. पु. ८. पृ. ३३.।

१२३. सदकारणवच्च नित्यम्। न्यायोक्ति कज्जं वि सव्वं सहेउअं चेव णिक्कारणस्सकज्जस्स अणुवलंभादो। ध. पु. १२ वे. प्र. अ. सू. १।

१२४. ण च तित्थयदीणमासादणालक्खण मिच्छत्तेण विणातिव्वकसाओ होदि. अणुवलंभादो। ध. पु. १०. पृ. ४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाता है, क्योंकि उनका उपदेश सुनकर ही यह संसारी जीव मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता है[१२५]। इसीलिए यहां पर "तीर्थंकर आदि" पद से सच्चे देव, गुरू और शास्त्र का ग्रहण हो जाता है, उसमें कोई बाधा नहीं आती।

(४) कषाय के उत्कृष्ट संक्लेश में ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध इसलिये होता है, क्योंकि वह अकेला नहीं होता, किन्तु वह तीव्र मिथ्यात्व परिणाम तीर्थंकर आदि की आसादना लक्षण परिणाम के साथ होता है, और इसलिये मिथ्यात्व के तीव्र संक्लेश के बिना कषाय का उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम नहीं होता, मात्र इसीलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कराया है। मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के लिये भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये[१२६A]।

(५) इस प्रकार यह नियम है कि कषाय का उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम अन्य गुणस्थानों में इसीलिए नहीं होता, क्योंकि वह मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम का अविनाभावी है। मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम के बिना कषाय का उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम नहीं हो सकता[१२६B]।

२७. बन्ध में मिथ्यात्व की विशेषता है अनन्तानुबन्धी की नहीं-

तत्वार्थसूत्र आदि में जो मिथ्यात्व को प्रथम स्थान पर रखा जाता है वह केवल मिथ्यात्व की विशेषता जानकर ही रखा है। अकिंचित्कर पुस्तक में उसके स्थान में अनन्तानुबंधी की विशेषता बतलाना अयुक्त है, कारण कि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व हो तो वह अनन्तानुबन्धी को बन्ध के सन्मुख करती है और उसका बन्ध भी करता है। (२) देखो दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चार का बन्ध भी है और अनन्तानुबंधी चार में से किसी एक प्रकृति का उदय भी है, पर अनन्तानुबन्धी का उदय दूसरे गुणस्थान में होते हुए भी मिथ्यात्व का बन्ध नहीं कराता, क्यों नहीं कराता —यदि यह कहो तो यही कहा जायगा कि मिथ्यात्व स्वोदय बन्धी प्रकृति हैं, इसलिए मिथ्यात्व का बन्ध मिथ्यात्व के उदय से ही होता है अनन्तानुबन्धी चार का उदय उसके बन्ध में प्रयोजक नहीं है। किन्तु अनन्तानुबन्धी चार स्वपरोदयी प्रकृति है[१२७]। वह मिथ्यात्व के उदय से भी बंधती है और स्वयं का उदय होने से भी बंधती है[१२८]।

---

१२५. जो जाणदिअरहंते दव्वत्तगुणत्त पज्जयतेहिं। सो जाणदिअप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं। प्रवच. गा. ८०। सव्वे वियअरहंता जेण विधाणेण खविदकम्मंसा। किच्चा तघोवदेसं णिव्वाद ते णमो तेसिं॥ प्रवच. गा. ८२।

१२६. बहुसो बहुसो बहुसंकिलेसं गदो त्ति सुत्तादो चेव द्विदिबंधबहुत्तमुक्कड्डणा— बहुत्तं च सिद्धं, तदो णिरत्थयमिदं सुत्तमिदि ? होदि जिरत्थयं जदि कसायमेत्तमुक्कड्डणा ए कारणं, किंतु तिव्वमिच्छत्तं अरहंत—सिद्ध—बहुसुदाइरियच्चासणातिव्वकसाओ च उक्कड्डणाकारणं। ध. पु. १०, पृ. ४२।

१२७. ध. पु. ८ (ब. सा. वि.) सू. ५५-५६।

१२८. ध. पु. ८ (ब. सा. वि.) सू. ५७-५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंका :—यदि शंकाकार कहे कि मिथ्यात्व स्वोदयी बन्धी प्रकृति अवश्य है, पर स्वोदयी का यह अर्थ नहीं है कि स्वोदयी प्रकृति होने से मिथ्यात्व ही उसके बन्ध का कारण है ?

समाधान :—यदि स्वोदयी का अर्थ उक्त नहीं है तो क्या है ? इसका खुलासा आगमानुसार अकिंचित्कर पुस्तक में देखने को नहीं मिलता। जो बात कही जाये उसका विवेचन आगम के अनुसार होना चाहिए। आगम में यह वचन उपलब्ध होता है कि साधुजन आगम चक्षुवाले होते हैं। कहा भी है आगमचक्खू साहू[१२६]।

(३) मिथ्यात्व के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रवपूर्वक बन्ध होता है, उनका शेष गुणस्थानों में संवर जानना चाहिए। क्योंकि मिथ्यात्वरूप कारण के अभाव में उनका संवर जानना चाहिए[१३०]। वे प्रकृतियाँ १६ हैं[१३१], मिथ्यात्व, नपुंसकवेद २, नरकायु ३, नरकगति ४, एकेन्द्रिय जाति से लेकर चौइन्द्रियजाति तक ५-८, हुंडकसंस्थान ६, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन १०, नरकगत्यानुपूर्वी ११, आतप १२, स्थावर १३, सूक्ष्म १४, अपर्याप्त १५, और साधारण १६।

(४) नियम यह है कि दूसरे गुणस्थान से गिरकर मिथ्यात्व में नियम से आता है। ऐसा क्यों होता है ? यह पूछा जाये तो यही कहा जायगा कि वह मिथ्यात्व भूमि के सन्मुख होने का काल है, क्योंकि जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में एक समय से लेकर छह आवलिकाल के शेष रहने पर अनन्तानुबंधी चार मे से किसी एक प्रकृति के उदय से जिसका प्रथमोपशम सम्यक्त्व नष्ट हो गया है वह सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है[१३२]। क्योंकि अनन्तानुबंधी चार की ऐसे जीव के अप्रशस्त उपशम होने के कारण सत्ता है, इसलिये वह उदय में आ जाती है। कारण कि, प्रथम और दूसरा गुणस्थान अनन्तानुबंधी के बन्ध और उदय का है तथा उदयावलि में उसकी सत्ता बनी हुई है, कारण कि उसका अप्रशस्त उपशम हुआ है[१३३]। प्रशस्तउपशम नहीं हुआ है। इसका केवल एक अपवाद है। वह यह है कि जिसने अनन्तानुबंधी चारकी विसंयोजना की है उसके सीधे मिथ्यात्वगुणस्थान में आनेपर अनन्तानुबंधी चार का बन्ध तो होता है, पर एक आवलि काल तक उदय नहीं होता, क्योंकि उसके उदयावलि में निषेक रचना ही नहीं पायी जाती, कारण कि संक्रमित तथा बन्ध को प्राप्त द्रव्य का एक आवलि काल तक अपकर्षण होकर उदयावलि में निक्षेप नहीं होता[१३४]।

तत्वार्थवार्तिक के ६वें अध्याय के प्रथम सूत्र के वार्त्तिक १३ के स्पष्टीकरण में जो यह कहा गया है कि मिथ्यादर्शन अनन्त इसलिये कहलाता है कि वह अनन्त संसार

---

१२६. प्र. सा. गा. २३४।

१३०. मिथ्यादर्शनादि प्रत्ययकर्म संवरणंसंवरः। त. रा. वा. पृ. ३१६, वा. नं. ६।

१३१. त. रा. वा. पृ. ३१८, वा. नं. २५।

१३२. गो. जी. गा. १६-२०।

१३३. देसकरणोवसामणाए दुवे णाभाणि-देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थुवसामणा त्ति वि। क. पा. चूर्ण सू. पृ. ७०८।

१३४. अणसंजोजिदसम्मो मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं। गो. क. गा. ४७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का कारणहै। लगभग वही स्थिति अनन्तानुबंधी चार की भी है, क्योंकि उसका वासनाकाल अनन्त संसार तक बना रह सकता है। दूसरे गुणस्थानों के बाद नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान होने वाला है, और वह मिथ्यात्व गुणस्थान मिथ्यात्व प्रकृति के उदय का अविनाभावी है। इसी को व्याजोक्ति की अपेक्षा कहा गया है कि जैसे मिथ्यात्व रूपी फल को अनन्तानुबंधी ने पैदा कर दिया है या अनन्तानुबंधी के मिथ्यात्वरूपी फल को उत्पन्न कर मिथ्यादर्शन में प्रवेश कराती है। यह व्याजोक्ति है।

दूसरे गुणस्थान के होने की एक सीमा है। उसके बाद नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है ऐसा नियम है, क्योंकि चौथे आदि गुणस्थान से वह मिथ्यात्व को प्राप्त करने के लिए ही वह उक्त स्थान से गिरा है। वह सम्यक्त्व से च्युत असमय में हो गया है यह उसका अपराध है। वैसे उसे असमय में सम्यक्त्व से च्युत नहीं होना था। इतने कथन से यह निष्कर्ष निकला कि–

(१) यह जीव जिस समय सम्यक्त्व से च्युत हुआ उसी समय मिथ्यात्व के सन्मुख हो गया है।

(२) किन्तु यह जीव असमय में सम्यक्त्व से च्युत हुआ, इसीलिए उसे उतने काल तक विवश होकर सासादन गुणस्थान में रुकना पड़ा, क्योंकि सम्यक्तव की विराधना करने से ही उसके सासादन गुणस्थान की प्राप्ति हुई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है, क्योंकि वह सम्यक्त्व की विराधना करने से उत्पन्न हुआ है[१३५]। अन्यथा वह सीधा मिथ्यात्व में जाता। जो अनन्तानुबंधी चार की विसंयोजना करता है वह यदि सीधा मिथ्यात्व में ही जाता है। उसके अनन्तानुबंधीचार का न तो मिथ्यात्व के बिना बन्ध होता है और न अनन्तानुबंधी चार का एक आवलि काल तक उदय ही होता है। विसंयोजना के काल में ही उदयावलि के ऊपर के निषेकों की विसंयोजना हो जाती है, और जो निषेक उदयावलि में रहते हैं उनका क्रम से विसंयोजना के काल में ही उदय के एक समय पहले स्तिवुक संक्रमण होकर निर्जरा हो जाती है। उनका उदय इसलिये नहीं होता, क्योंकि यह या तो विसंयोजना सहित है या चौथा आदि गुणस्थान उसके उदय का नहीं है। उसकी (अनंतानुबंधी की) उदय-उदीरणा का पहला और दूसरा गुणस्थान है।

यदि कहो कि अनन्तानुबंधी चार की विसंयोजना करनेवाला भी सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तो यह कहना कषाय-पाहुड़ के अनुसार तो बन जाता है, षट्खण्डागम के अनुसार नहीं बनता। इसलिये यहां अनन्तानुबंधी चार की विसंयोजना करनेवाले जीव का सासादन गुणस्थान की प्राप्ति का निषेध किया है।

शंका :– षट्खण्डागमजीवट्ठाण की चूलिका में यह कहा गया है कि सामान्य मनुष्य सम्यक्त्व से उत्पन्न हुए थे, वे सासादन सम्यक्त्व से कैसे निकलते हैं ?

---

१३५. आसादनं विराधनं सहसादनेन वर्तत इति सासादना। सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सो यं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति, तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबंध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा। त. रा. अ. ७, सू. १, वा. १३ मे पृ. ३१७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—इसका समाधान करते हुए पहले तो टीका में सिद्धान्त की बात बतला दी, फिर अन्त में यह कह दिया कि यहां तो संख्यात वर्ष और असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों को छोड़कर इस सूत्र की रचना हुई है। इसलिये यह घटित हो जाता है। कैसे घटित हो जाता है ? इसका खुलासा धवला में नहीं किया गया है। इससे मालूम पड़ता है कि वीरसेन स्वामी का मौन रहना इसके समर्थन में है कि, संख्यात वर्ष की आयु वालों के दूसरी बार सासादन गुणस्थान की प्राप्ति नहीं बन सकती। मनुष्य सामान्य और उक्त देवों में बन जायेगी[१३६]। विशेष के लिये जीवट्ठाण चूलिका का उक्त प्रकरण देखना चाहिए।

२८. स्व-परोदयबन्धी प्रकृतियों की परिभाषा :-

"स्वोदय और परोदयबन्धी प्रकृतियों के प्रसंग में यहां खास—तौर से मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी इन दो प्रकृतियों के ही बारे में विचार करेंगे।" ये अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४१ के शब्द हैं।

इसका विचार करते समय इन बातों को ध्यान में लेना आवश्यक है। अकिंचित्कर पुस्तक के शब्दों में जिनका विचार करना आवश्यक है वे ये हैं –

(१) अनन्तानुबंधी को स्वोदयी तथा परोदयी दोनों रूप कहा गया है तो उसका भी बन्ध मिथ्यात्व के उदय में तथा मिथ्यात्व के द्वारा स्वीकार कर लेना चाहिए अकिं. पु. पृ. ४१

(२) यहां मिथ्यात्व स्वोदयबन्धी मानने का अर्थ है कि मिथ्यात्व के उदय में ही मिथ्यात्व का बन्ध होगा। न कि वह मिथ्यात्व के द्वारा होगा। अकिं पु. पृ. ४२

(३) इससे यह नियम भी नहीं बनता कि मिथ्यात्व के उदय से नियमतः इन प्रकृतियों का बन्ध ही हो। अकिं. पु. पृ. ४२

(४) मिथ्यात्व के उदय के साथ अनन्तानुबंधी का उदय तो हमेशा रहता ही है। अकिं. पु. पृ. ४४

ये चार बातें मुख्य हैं। इनके साथ पूरे प्रकरण पर भी विचार करेंगे।

किसी ने पूछा होगा कि महाराज ! मिथ्यात्व प्रकृति तो स्वोदयी बन्धी प्रकृति है, इसलिए मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्व के वश मिथ्यात्व का बंध मान लिया जाये तो इसमें क्या बाधा है ? यह दूसरे द्वारा किया गया पहला सवाल है। इसका समाधान करते हुए अकिंचित्कर पुस्तक में पृ. ४२ पर यह उत्तर दिया गया है कि :—

यहाँ मिथ्यात्व स्वोदयी बन्धी मानने का अर्थ है कि मिथ्यात्व के उदय में ही मिथ्यात्व का बन्ध होगा, नकि वह मिथ्यात्व के द्वारा होगा, इत्यादि आगे अप्रासंगिक बात लिखकर यह लिखा है कि "इससे यह नियम भी नहीं बनता कि मिथ्यात्व के उदय से नियमतः इन प्रकृतियों का बन्ध हो ही।"

---

१३६. ध. पु. ६, जी. चू. सू. ६६-७०, टी. , पृ. ४४३-४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ यह बात ध्यान में लेने लायक है कि मिथ्यात्व के उदय को अकिंचित्कर पुस्तक में प्रत्यय न मानकर यह उत्तर दिया गया जान पड़ता है, जब कि मिथ्यात्व को पाँच प्रत्ययों में प्रथम स्थान पर रखा गया है। जब मिथ्यात्व के उदय को अर्थात् मिथ्यात्व को प्रत्यय माना गया है तो यहाँ कहा जायेगा कि मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यात्वके द्वारा ही मिथ्यात्व का बन्ध होगा। मिथ्यात्व के साथ अविरति आदि चार प्रत्यय भी रहते हैं तो रहो पर उनमें मिथ्यात्व मुख्य प्रत्ययहै[१३७]। वह न तो सासादन में अन्य चार प्रत्ययों के रहने पर भी मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता। अनन्तानुबंधीजन्य अविरति प्रत्यय तो दूसरे गुणस्थान में भी है[१३८] पर उससे मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता।

देखो, अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के एक आवलि मात्र काल तक अनन्तानुबंधी चतुष्क का उदय नहीं होने पर भी[१३९] मिथ्यात्व का बंध होता है, इसलिये मिथ्यात्व का उदय ही मिथ्यात्व के बन्ध का कारण है। यदि कहा जाये कि मिथ्यात्व के उदय के साथ अनन्तानुबंधी का उदय तो हमेशा रहता ही है तो यह कहना विसंयोजना पूर्वक संयोजना करनेवाले के एक आवलि काल तक मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी के उदय नहीं रहने से कैसे बनेगा ?

देवायु का बन्ध षट्खण्डागम धवला पु. ८ के अनुसार मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्त के संख्यातवें भाग तक होने का नियम है[१४०] इसलिये केवल मिथ्यात्व का उदय ही देवायु के बन्ध का नियामक नहीं है। किन्तु मिथ्यात्व, नपुसंक वेद आदि १६ प्रकृतियों के बन्ध का मिथ्यात्व का उदय नियामक है। "इससे यह नियम भी नहीं बनता कि मिथ्यात्व के उदय में नियमतः इन प्रकृतियों का बन्ध हो ही (अकिंचित्कर पुस्तक)।" यदि मिथ्यात्व गुणस्थान में देवायु का बन्ध होता है, तो अन्य गुणस्थानों में भी देवायु का बन्ध होता है, इसलिये जैसे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बन्ध के लिये मिथ्यात्व का उदय नियामक है, वैसे देवायु के बन्ध के लिये भी मिथ्यात्व का उदय नियामक नहीं है। इसी न्याय के अनुसार मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों को छोड़कर अन्य प्रकृतियों के बन्ध के विषय में भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि उनका बन्ध मिथ्यात्व में होकर भी अन्य गुणस्थानों में भी होता है। इसलिये देवायु सहित अन्य प्रकृतियों के बन्ध के लिये मिथ्यात्व के साथ अविरति आदि कारण पड़ते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी के बन्ध के समय नरकगति और नरकगत्यानुपूर्वी का बन्ध होता तो इससे भी प्रकृत में कोई बाधा नहीं आती,

---

१३७. मिच्छत्तस्स सोदएणेव बंधो। ध. पु. ८ पृ. ४४।
१३८. अणंताणुबंधिकोह माण–माया–लोहाणं सासणसम्माइट्ठि चरिमसमए उदयवोच्छेदो। ध. पु. ८ पृ. ६।
१३९. अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोजिय । मिच्छत्तं गयस्स आवलियमेत्तकालमणंताणु बंधिचउक्कस्सुदयाभावादो। ध. पु. ८ पृ. २५।
१४०. ध. पु. ८ पृ. ६४, सू. ३१-३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5172

क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक का यही अर्थ है कि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध होने पर हो, मिथ्यात्व को छोड़कर अन्य गुणस्थान के होने पर नहीं हो। यह स्थिति अन्य प्रकृतियों पर घटित नहीं होती। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों को छोड़कर मनुष्यगतिद्विक आदि अन्य प्रकृतियों का बन्ध इसलिये हुआ है कि, उस समय मिथ्यात्व गुणस्थान के होते हुए भी परिणाम नरकगतिद्विक के बन्ध में निमित्त नहीं हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में यह तो ठेका लिया नहीं कि मिथ्यात्व गुणस्थान है तो मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों के ही बन्ध के अनुकूल परिणाम ही हो, तथा अन्य प्रकृतियों के भी बन्ध के योग्य परिणाम न हो। अन्य प्रकृतियों के बंध योग्य भी परिणाम हो सकते हैं। हाँ, यह अवश्य ही ठेका लिया है कि जब भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध होगा, तब उसके मिथ्यात्व गुणस्थान अवश्य रहेगा और उन प्रकृतियों के बन्ध के योग्य परिणाम भी होगें। जैसे तीर्थंकर प्रकृतिके बन्ध के समय बन्ध के अधिकारी का सम्यक्त्व भी होना आवश्यक है। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि सभी सम्यक्त्वी के तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के योग्य परिणाम हों ही। हाँ, यदि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होगा तो सम्यक्त्वी के ही होगा पहले से तीसरे गुणस्थान वालों को नहीं।

शंका :—यहां यह भी विचारणीय हो जाता है कि अनन्तानुबंधी स्वोदय-परोदयबन्धी प्रकृति है सो कैसे ? अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४४ में लिखा है कि "अगर परोदयबन्धी कहकर कोई मिथ्यात्व के द्वारा अनन्तानुबंधी का बन्ध मानने लगे तो उसकी नासमझी ही होगी।" कारण, ऐसा मानने पर अनन्तानुबंधी सम्बन्धी २५ प्रकृतियों का भी बन्ध मिथ्यात्व के द्वारा मानना होगा। आदि।

समाधान :—अकिंचित्कर पुस्तक के इस कथन से हम यह समझे कि किसी प्रकार मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी चतुष्क के बन्ध का निमित्त न बन जाये, इसके लिये यह प्रयत्न है, क्योंकि इससे अनन्तानुबंधी की महत्ता घटकर मिथ्यात्व को मिल जाती है। अकिंचित्कर पुस्तक भी इसीलिये लिखी गई है और इसीलिये ही मिथ्यात्व को अनन्तानुबंधी चतुष्क के बन्ध में निमित्त मानने वालों को "नासमझ" लिखा गया है।

शंका :—अब देखना यह है कि मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी चतुष्क के बन्ध में किस रूप में निमित्त है और किस रूप में निमित्त नहीं है ?

समाधान :—यह एक शंका है। उसके समाधानस्वरूप यह तो सुनिश्चित है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चतुष्क का चारों प्रकार का बन्ध होता है[१४१]। इसलिये अनन्तानुबंधी चतुष्क के बन्ध का मिथ्यादृष्टि जीव भी स्वामी हुआ और मिथ्यात्व प्रत्यय भी। इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रत्यय के कारण ही अनन्तानुबंधी का बन्ध होता है।

शंका :—मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ अन्य प्रत्यय भी कारण हो सकते हैं ? इसलिये चारों प्रत्ययों से बन्ध क्यों नहीं कहा[१४२] ?

---

१४१. क्षीणगिद्धितीय—अणंताणुबंधिचउक्काणं मिच्छाइट्ठिम्हि चउव्विहो बंधो, धुवबंधित्तादो। ध. पु. ८ पृ. ११०।

१४२. चदुपच्चइगो बंधो पढमे। ध. पु. ८ पृ. २४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—उनमें मिथ्यात्व भी सम्मिलित होकर मुख्य है, क्योंकि मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और उत्कृष्ट अनुभागबन्ध मिथ्यात्व में ही होता है। दूसरे, मिथ्यात्व के एकेन्द्रिय आदि पर्याय और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय की लब्ध्यपर्याप्तक पर्याय मिथ्यात्व में ही होती है। अन्यथा, अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं कहना था ? यतः इस मिथ्यात्व के द्वारा भी अनन्तानुबंधी का बन्ध कहा गया है, इसलिये भी अनन्तानुबंधी के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध में मिथ्यात्व की उत्कृष्टता सिद्ध हो जाती है।

अकिं. पु. पृ. ४४,में लिखा है कि "परोदयबन्धी होने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि अनंतानुबंधी क्रोध के उदय में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों का बन्ध होता है।"

समाधान :—जो अनंतानुबंधी चार की विसंयोजना कर सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान में आया है, उसके एक आवलि काल तक अनंतानुबंधी का उदय तो नहीं होगा, तो उस अनंतानुबंधी का बन्ध जघन्य से मिथ्यात्व आदि १० प्रत्ययों से और उत्कृष्ट से १८ प्रत्ययों के द्वारा होता है[१४३]। जब अनन्तानुबंधी संयोजित ही नहीं हुई उसका एक भी परमाणु उदयावलि में ही नहीं है, तो फिर अनंतानुबंधी क्रोध का उदय कैसे आ सकेगा ? ऐसी स्थिति में अनंतानुबंधी चतुष्क के बंध का प्रश्न ही नहीं रहता। अतः अन्य चार प्रत्यय भी मिथ्यात्व के साथ गौण रूप से उसके बन्ध में प्रयोजक हैं।वेदना प्रत्यय अनुयोग पृ. २१४ पर बन्ध, उदय और उपशम रूप को सात नयों से घटित किया गया है, अकिंचित्कर पुस्तक को लिखते समय उसे भी ध्यान में लेना चाहिए।

सासादन गुणस्थान में भी अनन्तानुबंधी का बन्ध होता है, इसलिये सासादन गुणस्थान भी अनन्तानुबंधी के लिये मुख्य है। पर यह कहना इसलिये नहीं बनता, क्योंकि सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उत्कृष्ट बन्ध नहीं होता, वह मिथ्यात्व में ही होता है। प्रमाण पहले दे आये हैं। जैसे दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी निमित्त है, वैसे ही मिथ्यात्व गुणस्थान में भी मिथ्यात्व निमित्त है। क्योंकि सासादन में मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता, इसलिये अनन्तानुबंधी चार मिथ्यात्व के बन्ध में निमित्त नहीं हैं, अन्यथा नौवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा जितना बंध आगम में कहा है, उतना बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में भी होने लगे ? परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये जिस-जिस गुणस्थान में जो-जो प्रत्यय कहे हैं उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। कोई भी जैनी हो, उसे आगम को मुख्यता देनी चाहिए[१४४], क्योंकि

---

१४३. अणंताणुबंधीचउक्कं विसंजोजिय मिच्छत्तं गयस्स आवलिमेत्तकालमणंताणुबंधियउक्कस्सुदयाभावादो बारससु कसाएसु तिण्णि कसायपच्चया- एवमेदेहि दस अट्ठारसजहण्णुक्कस्सपच्चएहि मिच्छाइट्ठी अप्पिदसोलसपयडीओ बंधइ ॥ ध. पु. ८, पृ. २५। तथा मिच्छत्तासंजम- कसाय- जोग- पच्चयापरिणदजीवेण विणाबंधो णत्थि त्ति पच्चयविहाणे परुविदत्तयो। ध. पु. १२, पृ. ३०५।

१४४. सव्वे आगमसिद्ध अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥ प्र. सा. पृ. ४४७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगम से ही हम जानते हैं कि जीवादि छह द्रव्य हैं। उनमें पाँच अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य है तो अवश्य ही, पर वह अन्य द्रव्यों के समान कायवान् नहीं है इसलिये आगम ही हमारा चक्षु है[१४५]।

मिथ्यात्व का प्रथम बार उपशम करने के लिये तीन करण किये जाते हैं। वे तीन करण मिथ्यात्व में ही होते हैं। पर अनन्तानुबंधी का स्वयं अप्रशस्त उपशम हो जाता है और क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये विसंयोजना करता है वही क्षय है। ऐसा नियम है कि जब यह जीव अनन्तानुबंधी का पहले क्षय करता है तब मिथ्यात्व का पहले क्षय क्यों नहीं होता, यदि यह पूछा जाये तो उसका उत्तर यही है कि अनन्तानुबंधी की अपेक्षा मिथ्यात्व का अनुभाग अत्यन्त अप्रशस्त है, इसलिये अनन्तानुबंधी का अपेक्षा मिथ्यात्व का क्षय करने के लिये अधिक आत्मबल लगता है। इसीलिये मात्र अनन्तानुबंधी के क्षय के बाद मिथ्यात्व का क्षय आगम में स्वीकार किया गया है, तथा अनुभाग की अपेक्षा देखा जाये तो अनन्तानुबंधी चार का जघन्य अनुभाग भी मिथ्यात्व के जघन्य अनुभाग से बहुत अल्प है, क्योंकि अनन्तानुबंधी को जघन्य अनुभाग के बाद मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग प्राप्त होता है।

शंका :—यहां यह शंका होती है कि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का अनुभाग भी अनन्तानुबंधी के अनुभाग से बहुत थोड़ा है, फिर क्यों मिथ्यात्व के उपशम या क्षय के बाद इनका उपशम या क्षय कराया है ?

समाधान :—यह प्रश्न उपयुक्त है किन्तु वे दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के ही भैद हैं, इसलिये मिथ्यात्व का उपशम या क्षय हुए बिना उनका उपशम या क्षय नहीं होता, क्योंकि वे एक अपेक्षा से मिथ्यात्व की ही पुष्टि करती हैं।

२६. बन्धापसरण का अर्थ :-

यह तो तय है कि बन्धापसरण बन्ध व्युच्छित्ति नहीं है, क्योंकि बन्धापसरण में एक-एक अन्तर्मुहूर्त में बन्ध की क्रम से हानि हो-होकर अन्त में उन प्रकृतियों का बन्ध कुछ काल के लिये रुक जाता है। यह स्थिति आगे भी बनी रहती है। अर्थात् जैसे-जैसे विशुद्धि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का भी उत्तरोत्तर बन्ध कम-कम होता जाता है। इस प्रकार बन्धापसरण की प्रवृत्ति सर्वत्र तत्तत प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति के पूर्व तक जान लेना चाहिये। यह बन्धापसरण और बन्धव्युच्छित्ति में अन्तर है। इतना अवश्य है कि यदि वह जीव पुनः लौटकर मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है या पहले के गुणस्थानों में लौट आता है तो पुनः जहां जो गुणस्थान होता है वहां कर्मबन्ध की वही स्थिति बन जाती है। बन्धव्युच्छित्ति बन्धापसरणपूर्वक होती है, यही उन दोनों में अन्तर है, इसीलिये विशुद्धि के साथ बन्धापसरण होने में कोई बाधा नहीं आती।

---

१४५. आगमचक्खु साहू ॥२३४॥ प्र. सा.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३०. विसंयोजना :-

यह तो तय है कि अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना उपशम या वेदक सम्यग्दर्शन के होने पर होती भी है और नहीं भी होती। अब देखना यह यह कि मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में ऐसे जीव के, जिसने विसंयोजना की है, उसके आने पर क्या होता है ? उसके विसंयोजना बनी रहती है या अनन्तानुबंधी चार का संक्रमणपूर्वक पुनः बन्ध होने लगता है। यह तो सब मानते हैं कि ऐसे जीव को मिथ्यात्व में आने पर उसका पुनः संक्रमण और बन्ध होने लगता है। उदय के विषय में विवाद है, क्योंकि जब यह विसंयोजना करनेवाला जीव सासादन गुणस्थान में आवे तो नियम से सासादन में अनन्तानुबंधी चतुष्क में से किसी एक का उदय माना ही गया है[१४६]। ऐसा जीव जब सीधा मिथ्यात्व में आवे तो अनन्तानुबंधी चारों में से किसी एक के उदय के बिना भी मिथ्यात्व गुणस्थान बन जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति मिथ्यात्व के उदय से होती है, न कि अनन्तानुबंधी चार में से किसी एक के उदय से होती है[१४७]।

दूसरी ओर जब अनन्तानुबंधी चार की विसंयोजना नहीं करने वाला जीव सीधा सासादनपूर्वक मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है तब उसका क्या होता है ? इसका निर्देश तत्वार्थवार्तिक के ६वें अध्याय के पहले सूत्र में इस प्रकार किया गया है। उसका भाव यह है कि आसादन का अर्थ सम्यक्त्व की विराधना करना। जो आसादन के साथ होती है उसे सासादन कहते हैं। जिससे वह सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। उसके मिथ्यादर्शन के उदय नहीं होने पर भी अनन्तानुबंधी के उदय से तीन सम्यग्ज्ञान अज्ञानरूप परिणम जाते हैं। इसलिए सासादन सम्यग्दृष्टि यह सार्थक संज्ञा है, अनन्त मिथ्यादर्शन है। उसका अर्थात् अनन्त का अनुसरण करने से अनन्तानुबंधी कहलाती है। मानो वह मिथ्यादर्शनरूप फल का समर्पण करने से मिथ्यादर्शन का प्रवेश कराती है[१४८]। अर्थात् परिणामों के अनुसार मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, कोई किसी को प्रवेश नहीं कराती है यह ऊपर के उक्त कथन का अभिप्राय है।

---

१४६. कुदो तत्थाणंताणुबंधीणामण्णादरपवेसणियमो ? णा, सासणागुणास्सतदुदयाविणामि वित्तादो। कधं पुव्वमसंतस्साणंताणुबंधिकसायत्स तत्थुदयसंभवो ? णा, परिणामपाहम्मेणा सेसकसायदव्वस्स तक्कालमेवतदायारेण परिणामिय उदयदंसणादो ॥ ज. ध. भा. १०, पृ. १२३-१२४।

१४७. कुदोअसंत्तस्स अणंताणु चाक्कस्स उप्पत्ती ? ण मिच्छत्तोदेणं कम्मइय वग्गणक्खंधाणमणंताणु चउक्कासरूवेण परिणमणं पडि विरोहामावायो, जय ध. ४, पु. २४।

१४८. आसादनं विराधनं सहासादनेन वर्तते इति सासादना। सासादना सम्यग्दृष्टिर्यस्य सो यं सासादनसम्यग्दृष्टिरिति। तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावे पि अनन्तानुबंध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति। अत एवास्यान्वर्थसंज्ञा। अनन्तं मिथ्यादर्शनं तदनुबन्धनादनंतानुबन्धीति स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयत् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति। त. वा. अ. ९, सू. । पृ. ३१७, वा. १३ का प. सं. का पांचवाँ अधिकार सप्ततिका की ३०५ गा.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह तत्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे कई बातों पर प्रकाश पड़ता है। यथा–

(१) विसंयोजना करनेवाला जीव एक दृष्टि से सासादन गुणस्थान में आता है। एक दृष्टि से सीधा मिथ्यात्व में आता है।

(२) जब सीधा मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है तब एक आवलि काल तक अनन्तानुबंधी चारों में से किसी का भी उदय नहीं होता, एक आवलि काल तक उनका अनुदय रहता है।

(३) अनुदय रहने का कारण यह है कि संक्रमावलि और बन्धावलि के एक आवलि काल तक अनंतानुबंधी चार का उदय नहीं हो सकता।

(४) उसका कारण है कि, एक तो उदयावलि में निषेक रचना नहीं है, दूसरे बन्ध का आबाधा के ऊपर निषेक रचना में बन्ध के कर्म परमाणु पाये जाते हैं, आबाधा में नहीं तथा आबाधा में संक्रम के कर्म परमाणुओं का निक्षेप नहीं होता। आबाधा के ऊपर निषेक रचना में संक्रमित कर्म परमाणुओं का निक्षेप होता है, इसलिये एक आवलि काल के बाद उसका उदय होता है[१४६]।

(५) यह स्थिति एक आवलि काल तक बनी रहती है। उसके बाद उन कर्म परमाणुओं का अपकर्षण द्वारा उदय और उदीरणा होकर अनन्तानुबंधी के कर्मपरमाणुओं का उदय से लेकर उदयावली में निक्षेप हो जाता है। इसलिये गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि सीधे मिथ्यात्व में जानेपर अनंतानुबंधी चतुष्क के द्रव्य का एक आवलि काल तक उदय नहीं होता, अनुदय बना रहता है। अकिं. पु. टिप्पण १०६ का अर्थ यह नहीं है कि इस नियम में वह बाधा करे।

(६) उक्त इस नियम को षट्खण्डागम में तो स्वीकार किया ही है, किन्तु कषाय-प्राभृत में भी सासादन गुणस्थान के माहात्म्य का अपवाद स्वीकार कर लिया है।

इस व्यवस्था को ध्यान में न रखकर अकिंचित्कर पुस्तक में षट्खण्डागम की प्ररुपणा को विवक्षित न कर यह लिख दिया है कि "मिथ्यात्व के उदय के साथ अनंतानुबंधी का उदय तो हमेशा रहता ही है।" साधारण पाठक तो इस बात को पकड़ नहीं सकता कि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाला यदि मिथ्यात्व गुणस्थान में सीधा आता है तो अनन्तानुबंधी का बन्ध तो होने लगता है, पर उसका एक आवलि काल तक उदय नहीं होता। प्रमाण १३४,१३१ टिप्पण में दे दिया है।

---

१४६. आवलियमित्तकालं मिच्छत्तं दंसणाहिसंपत्तो।
मोहम्मि च अणहीणो पढमे पुण णवोदओ होज्ज ॥३०५॥
अनन्तानुबन्धि विसंयोजितवेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वकर्मोदयात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानं प्राप्ते आवलिमात्रकालं अनन्तानुबन्ध्युदयोनास्ति, अतो मोह प्रकृतीनां दशकानामुदयः १० अनन्तानुबन्धिरहितो नवप्रकृतीनामुदयो मिथ्यादृष्टि प्रथमे गुणस्थाने भवेत्। गा. ३०५ ॥ टी.।
अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं।
उवसमखइये सम्मं ण हि तत्थविचार ठाणाणि ॥४७८॥ गो. क.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो अकिंचित्कर पुस्तक में १०६ क्रमांक का टिप्पण दिया गया है उसमें तो यह कहा गयाहै कि 'कसायउवसामेदूण पुणो विसंजोइदं, संजुत्तं कादूण वेछावद्ठीदो सम्मत्तमणुणालिय मिच्छत्तं गदो तस्स आवलियमिच्छाइद्ठिस्स अणंताणुबंधीणं जहण्णओपदेसुदयो ।' इससे मालूम पड़ता है कि ऐसा जीव दो छयासठ सागरोपम काल के पहले ही अनन्तानुबंधी की विसंयोजना को छोड़कर उससे संयुक्त हो चुका था, इसलिये उसके सीधे मिथ्यात्व में जानेपर आगम से कोई बाधा नहीं आती । उसके मिथ्यात्व में जाने पर प्रथम आवलिकाल के भीतर ही अनन्तानुबंधी का उदय बन जाता है, क्योंकि चौथें आदि गुणस्थानों में विसंयोजना करनेवाला यह जीव सीधा मिथ्यात्व में नहीं आया है । वह अनन्तानुबंधी से संयुक्त होकर पहले दो छयासठ सागरोपम काल तक सम्यक्त्व के साथ और बीच में अन्तर्मुहूर्त सम्यगमिथ्यात्व के काल के बाद पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त कर घूमा है, उसके बाद ही वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है । इसलिये यहां आगम का यह नियम लागू नहीं होता कि "विसंयोजना करने वाला जीव सीधा मिथ्यात्व में आवे तो अनन्तानुबंधी से संयुक्त होने पर एक आवलि काल के भीतर अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होता ।

यहां जो अकिंचित्कर पुस्तक में १०७ से लेकर ११२ तक के टिप्पण दिये हैं वे संक्रम की अपेक्षा टिप्पण बनकर भी बन्ध की अपेक्षा उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यह तो सामान्य पाठक भी जानता है कि कर्मबन्ध नयी कार्माण वर्गणाओं का होता है उसे अकर्मबंध कहते हैं । और संक्रम बंधे हुए कर्म का होता है उसे ही कर्मबन्ध कहते हैं ।

३१. मिथ्यात्व भावात्मक भी है और बन्धक भी :-

यह तो सामान्य पाठक भी जानते हैं कि जितने प्रत्यय् हैं वे योग को गौण कर भावात्मक भी हैं, और कारणपने की अपेक्षा भावात्मक भी हैं और बन्धक भी हैं । इसलिये उनके निमित्त से बन्ध होने में कोई बाधा नहीं आती । मिथ्यात्वरूप भाव न हो तो मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध भी न हो[१५०] । इसलिये मिथ्यात्व भावात्मक होकर भी मिथ्यात्व, नपुंसकवेद आदि १६ प्रकृतियों का बन्धक भी है । देखो ! मिथ्यात्व गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में मिथ्यात्व का बन्ध और उदय नियम से होता रहता है[१५१] । अनन्तानुबंधी के नये बन्ध के लिये मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान का होना आवश्यक है[१५२] । इसका एक अपवाद है । उसका उल्लेख टिप्पण१३६ में कर आये हैं ।

---

१५०. ध. पु. ८ सू. १५-१६ पृ. ४२,४३ ।

१५१. मिच्छत्तस्स बंधोदया समं वोच्छिज्जन्ति, मिच्छाइट्ठिचरिमसमए बंधोदयवोच्छेददंसणादा । ध. पु. ८ पृ. ४३ ।

१५२. अणंताणुबंधिचउक्कस्स बंधोदया समं किट्टिति सासणसम्माइट्ठिचरिमसमेए एदेसिं बंधोदयाणं जुगवं वोच्छेददंसणादो । ध. पु. ८ पृ. ३१ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्व के उदय से जीव में अतत्व श्रद्धान रूप भाव हो और वह मिथ्यात्व आदि नये कर्मों को बन्ध में भी निमित्त हो इसमें कोई बाधा हो तो उसका आगम में उल्लेख मिलना चाहिए ? क्योंकि कषाय पर भी ऐसा आक्षेप कर सकते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से वह भी बन्ध का कारण नहीं है। जैसे पर्याय एकान्त से बन्ध का कारण नहीं होती, वैसी ही द्रव्यार्थिकनय का सामान्य विषय भी एकान्त से बन्ध का कारण नहीं होता।

हिंसा विषयक जीव के व्यापार को प्राणातिपात कहते हैं।

यहां शंका उठायी गई है कि हिंसा विषयक जीव का व्यापार तो पर्याय है, और पर्याय एकान्त से बन्ध का कारण नहीं हो सकता[१५३]।

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि हिंसा विषयक जीव का व्यापार जीव के कथंचित् अभिन्न है, इसलिये उसमें कारणता बन जाती है।

इस प्रकार इस समाधान से यह निश्चित हो जाता है कि पर्याय को जीव से कथंचित् अभिन्न मानने पर वह ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बन्धक बन जाता है[१५४]।

मोह शब्द का अर्थ करते हुए वे. प्र. अ. में लिखा है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व के समूह को मोह कहते हैं[१५५]।

यहां यह शंका उठायी गई है कि मोह प्रत्यय का अन्तर्भाव क्रोधादिक में हो जाता है इसलिये वह प्रत्यय नहीं हो सकता ?

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि क्रमशः व्यतिरेक और अन्वयस्वरूप अनेक तथा एक संख्या वाले कारण और कार्यरूप तथा एक व अनेक स्वभाव से संयुक्त अवयव और अवयवी के एक होने का विरोध है। तात्पर्य यह है कि मोह अवयवी है और क्रोधादिक अवयव हैं तथा मोह अन्वयस्वरूप है और क्रोधादिक भाव व्यतिरेकस्वरूप हैं, इसलिये उन्हें सर्वथा एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्रोधादिक अवयव हैं, और मोह अवयवी है, इसलिये उनमें कथंचित् भेद बन जाता है। इसलिये नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे कथंचित् द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा में कथन करते हैं। और स्थूल ऋजुसूत्रनय कथंचित् पर्याय को मुख्य मानकर कथन करता है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का तो कारण औरकार्य केविषय में अधिकार ही नहीं है। इसीलिये आगम में ऋजुसूत्रनय का दो प्रकारसे कथन उपलब्ध होता है—एक सूक्ष्मऋजुसूत्रनय और दूसरा स्थूल ऋजुसूत्रनय।

---

१५३. पाणादिवादो णाम हिंसाविसयजीववावारो। सो च पज्जाओ। तदो ण सो कारणं, पज्जायस्स एयंतस्स कारणत्तविरोहादो। ध. पु. १२—वे. प्र. अ., पृ. २७६।

१५४. णाणावरणीयबंधणिबंधणपरिणामणिदोवट्टदे पाण-पाणिवियोयो वयणकलावो य। तम्हा तदो तेसियमेदो। तेणेव कारणेण णाणावरणीबंध तेसिं पच्चयत्तं पि सिद्धं ध. पु. १२—वे. प्र. अ., पृ. २८०-२८१।

१५५. ध. पु. १२—वे. प्र. अ., पृ. २८३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे. प्र. अ. के पृ. २६० में यह प्रश्न उठाया गया है कि कषाय और योग ये दो प्रत्यय ही आठ कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद को प्राप्त हुए कर्मों के बन्ध की कारणता को कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

उसका समाधान करते हुए अशुद्ध ऋजुसूत्र रूप पर्यायार्थिकनय में अनन्त शक्ति संयुक्त एक द्रव्य का अस्तित्व बन जाता है।

इससे मालूम पड़ता है कि द्रव्यार्थिकनय में पर्याय विवक्षित होकर भी वह द्रव्य की प्रधानता से कथन करता है और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय में द्रव्य विवक्षित होकर भी वह पर्याय की मुख्यता से कथन करता है।

इसलिये अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४७ में जो सामान्य प्रत्यय की विवक्षा में नैगम, संग्रह और व्यवहारनयों की अपेक्षा कथन किया गया है, वह एकान्त होने से इस प्रकरण में ग्राह्य नहीं है। यहां पृ. ४६ में जो टिप्पणी लिखी है उसमें "सामान्य प्रत्यय" शब्द नहीं है, फिर भी अपने कथन में यह शब्द जोड़ दिया गया है। ऐसा क्यों किया गया यह अकिंचित्कर पुस्तक ही बतलावे। इसी प्रकार आगे चलकर पर्यायार्थिकनय को बन्ध में प्रयोजक माना गया है तो वहां टीका में पर्यायार्थिकनय में स्थूल ऋजुसूत्रनय की विवक्षा क्यों की गयी ? इस पर भी अकिंचित्कर पुस्तक को ध्यान देना चाहिये। हम इतना कहेंगे कि चाहे द्रव्यार्थिकनय हो या चाहे पर्यायार्थिक नय में ऋजुसूत्रनय हो, दोनो में एकान्त ग्राह्य नहीं है।

अकिंचित्कर पुस्तक पृष्ठ ६१ का उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। इसमें मिथ्यात्व को भावात्मक बतलाकर मिथ्यात्व के द्वारा मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों के बन्ध का निषेध किया गया है। इसलिये पृच्छा होती है कि तत्वार्थसूत्र आदि में मिथ्यात्व को बन्ध के कारणों में क्यों गिनाया गया है ? मिथ्यात्व तो भावात्मक है उससे अतत्वश्रद्धान भाव होता है। वहां मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुबंधी के उदय को बन्ध के कारणों में गिनाया जाना चाहिए था। ऐसा क्यों नहीं किया।

दूसरे सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का बन्ध और उदय दोनो हैं, इसलिये यदि अनन्तानुबंधी ही मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध कराती हैं, तो सासादन गुणस्थान में भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध क्यों नहीं कराती ? प्रथम गुणस्थान में ही उनकी बन्धव्युच्छित्ति क्यों हो जाती है ?

यदि कहो कि अनन्तानुबंधी का बन्ध और उदय प्रथम गुणस्थान में ही हो जाता है, इसलिये ही वह १६ प्रकृतियों के बन्ध का प्रयोजक है, किन्तु अनन्तानुबंधी का यह बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान में एक अपेक्षा से बन जाता है, क्योंकि जो जीव अनन्तानुबंधी की विसंयोजना नहीं करता उसके ऊपर सें गिरकर मिथ्यात्व में आने पर या एक अपेक्षा से अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करनेवाले के सासादन के बाद मिथ्यात्व में आने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का बन्ध और उदय दोनों बन जाते हैं। किन्तु जो जीव अनन्तानुबंधी की विंसंयोजना करके सीधा मिथ्यात्वगुणस्थानमें आता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है उसके अनन्तानुबंधी का पहले समय से बन्ध होने पर भी उसका एक आवलिकाल तक उदय नहीं होता, यह षट्खण्डागम स्वीकार करता है। मात्र इसीलिये षट्खण्डागम के बन्धस्वामित्व विचय नाम के खण्ड में पहले गुणस्थान में भय–जुगुप्सा सहित विकल्प से ८ का या भय, जुगुप्सा में से किसी एक के बिना ७ का या दोनों के बिना ६ का उदय स्वीकार किया गया है। यहां अनन्तानुबंधी चारों के उदय को छोड़ दिया गया है। जो यह प्ररुपण सम्बन्धी गड़बड़ अकिंचित्कर पुस्तक में बराबर देखने को मिलती है। आगम में यह गड़बड़ कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी।

यदि धवला पु. १२ के पृ. २८१ में जो यह वचन देखने को मिलता है कि कषाय प्रत्यय के प्ररूपणा के लिये आगे का सूत्र कहते हैं[१५६]। सो यह वचन भी द्रव्यार्थिकनय का ही है, क्योंकि अभी द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा में प्ररूपणा चल रही है। उसमें मोह प्रत्यय का भी उल्लेख किया गया है और मोह का अर्थ करते हुए धवला टीका में मोह का अर्थ[१५७] क्रोध-मान, माया, लोभ, हास्य, रति अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व इन रूप किया गया है। निदान प्रत्यय भी द्रव्यार्थिकनय का वचन है। उसमें भी मिथ्यात्व से निदान का कथंचित् भेद बतलाया गया है। आगे "अब्भक्खाण" प्रमुख प्रत्ययों में सूत्र में ही मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन का उल्लेख ही दृष्टिगोचर होता है[१५८]। पर्यायार्थिकनय रूप ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में भी दो प्रकार का बन्ध योग और दो प्रकार का बन्ध कषाय से स्वीकार किया गया है[१५९]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सातों नयो से मिथ्यात्व की निमित्तता स्वीकार कर ली गयी है। इसलिये यह कहना कि मिथ्यात्व भावात्मक है, इसलिये वह बन्ध का निमित्त नहीं बन सकता। यह तो पाठकों को भ्रम में डालनेवाली बात हुयी। आगम में इसकी पुष्टि नहीं की जा सकती।

३२. नयों की विवक्षा में सामान्य-विशेष प्रत्यय-

अकिंचित्कर पुस्तक में इस हेडिंग के अन्तर्गत (पृष्ठ ४५) सामान्य-विशेष प्रत्ययों का विचार करते हुए सामान्य प्रत्यय, सामान्य औघ प्ररूपणा को स्वीकार कर और विशेष प्रत्यय आदेश प्ररूपणा को स्वीकार कर लिया है यह हमारा ख्याल है। आगे

---

१५६. संपहि कसायपच्चयपरूवणट्ठमुत्तत्तं भणदि ।घ. पु. १२, पृ. २८३।

१५७. क्रोध–मान–माया–लोभ–हास्य–रत्यरति–शोक–भय–जुगुप्सा–स्त्री–पु.–
नपुंसकवेद-मिथ्यात्वानां समूहो मोहः। घ. पु. १२, पृ. २८३.।

१५८. मिच्छत्तसहचरिस्स मिच्छत्तेण एयत्तविरोहादो। घ. पु. १२, पृ. २८४।

१५९. अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदसंण–
पओअपच्चए। घ. पु. १२, पृ. २८५।
उज्जुसुदस्स णाणावरणीयवेयणाजोगपच्चए पयडिपदेसग्गं ॥१२॥
कसायपच्चए ट्ठिदि-अणुभागवेयणा ॥१३॥ घ. पु. १२, सू. १२-१३, पृ. २८८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४७ में सामान्य प्रत्यय का लक्षण करते हुए लिखा है कि – "सामान्य प्रत्यय वे कहे जाते हैं जो कि बन्ध के समय उदय अस्तित्व में अपेक्षित होते हैं। इस सामान्य प्रत्ययों के अन्दर मिथ्यात्व आदि कई प्रत्यय रखे गये हैं। उनका वर्णन नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों से किया जाता है।" आगे अयशः-कीर्ति के बन्ध की अपेक्षा उदाहरण देकर उसे समझाया गया है और अकिं. पु. पृ. ४७ में लिखा है कि "मिथ्यात्व का उदय अयशकीर्ति के बन्ध के लिये नियामक कारण नहीं हुआ अपितु सामान्य कारण ही हुआ।"

आगे चलकर लिखा है कि "इस विषय को ऐसे समझा जा सकता है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध करनेवाला प्राणातिपात प्रत्यय भी कहा गया है। और वहां प्राणातिपात का अर्थ सीधा प्राणों का व्यपरोपण ही लिया गया है। इसी तरह आगे मृषावाद प्रत्यय, अदत्तादान प्रत्यय, मैथुन और परिग्रह प्रत्ययों को भी ग्रहण किया गया है।"

आगे "विशेष प्रत्यय की चर्चा करते हुए ऋजुसूत्रनय के आश्रित इनसे अलग ही प्रत्यय कहे गयेहै, कारण कि वे साक्षात् बन्ध की नियामकता से सम्बन्ध रखते हैं। ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में दो प्रत्यय कहे गये हैं कषाय और योग।" अकिं. पु. पृ. ५०

"यहां सामान्य और विशेष प्रत्ययों से इतना ही ज्ञातव्य है कि सामान्य प्रत्यय के होने पर बन्ध रूप कार्य ही हो, ऐसा नहीं, किन्तु विशेष प्रत्यय के सद्भाव में कार्य की निष्पत्ति अवश्यंभावी होती है।" उसी प्रकार प्राणातिपातादि प्रत्ययों के द्वारा लोक व्यवहार की प्रवृत्ति प्रचलित होती है, इसलिए ही इनका कथन किया गया है।

"इस प्रकार कार्य की निष्पत्ति और लोकव्यवहार दोनों के लिये यथायोग्य प्रत्ययों की विवक्षा समझकर आगम के सही-सही वाच्यार्थ तक गति करने का पुरूषार्थ करना चाहिए।" अकिं. पु. पृ. ५०-५१

यह अकिंचित्कर पुस्तक का कथन है। अब इस पर विचार क्रम प्राप्त है। उसमें सर्वप्रथम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के विषय में विचार करना है। यहां पर संसारीजीव और कर्म और नोकर्मरूप पुद्गल का बन्ध ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की कक्षा में आता है। तत्वतः यह बन्ध भी संसारी जीव के बनता है, मुक्त जीव कर्म-नोकर्म बन्ध उदय और सत्व से मुक्त हैं। संसारी जीव के ही यह सम्बन्ध बनता है। क्योंकि जीव अन्य द्रव्य है और पुदगल अन्य द्रव्य है। उपादान-उपादेय सम्बन्ध तो एक ही द्रव्य में बनता है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के लिये मुख्य रूप से दो द्रव्य अपेक्षित रहते हैं। उनके बिना यह सम्बन्ध नहीं बन सकता। संसारी जीव के किन परिणामों की अपेक्षा सम्बन्ध बनता है। इसके लिये तत्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय में यह कहा गया है कि –मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्मबंध के कारण हैं। यहां किसी की मुख्यता और गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्य से सब मुख्य है। इतना अवश्य है कि जिन प्रकृतियों की मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध और व्युच्छित्ति होती है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनमें मुख्यतया मिथ्यात्व की निमित्तता स्वीकार की गयी है। अन्यथा उनकी मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध और उदय व्युच्छित्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध मुख्यता से नैगमनय का विषय है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं। प्रमाण पहले दे आये हैं।

सामान्य प्रत्यय का लक्षण लिखते समय अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४७ में लिखा है कि "सामान्य प्रत्यय वे कहे जाते हैं जो कि बन्ध के समय उदय अस्तित्व में अपेक्षित होते हैं।" इन सामान्य प्रत्ययों के अन्दर मिथ्यात्व आदि कई प्रत्यय रखे गये हैं।

इसलिये ऐसा लगता है कि अपनी इष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये ऋजुसूत्रनय को मुख्यता दी गयी है, अन्य नयों को यहां गौण कर दिया गया है। जब कि वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में सब नयों की अपेक्षा विचार किया गया है। वहां यह भेद नहीं किया गया कि वे सामान्य प्रत्यय हैं और ये विशेष प्रत्यय हैं। यह तो अकिंचित्कर पुस्तक की ही करामात है।

अपनी इष्टसिद्धि के लिये कतिपय ऐसे उदाहरण भी दिये गये हैं, जो प्रथम गुणस्थान आदि में कभी बन्ध योग्य सामग्री के रहने पर बँधते हैं, और कभी अपनी बन्ध योग्य सामग्री के नहीं रहने पर नहीं बंधते। मिथ्यात्व आदि के रहते हुए भी अन्य बन्ध योग्य सामग्री नहीं हो तो नहीं बंधते। मिथ्यात्व अविरति आदि ही सामान्य रूप से बन्ध के कारण हों, ऐसा तो जिनागम में नहीं स्वीकार किया गया है विशेषरूप ही से इन्हें स्वीकार किया गया है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग गुणस्थान के अनुसार अवश्य होने चाहिए, अन्य कारण मिले तो बन्ध हो, नहीं मिलें तो बन्ध नहीं हो।

यही बात सर्वत्र भी स्वीकार क़ी गई है। जैसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पूर्व पाँच लब्धियाँ नियम से होती हैं, पर उनमें चार लब्धियां हों और पाँचवी करणलब्धि न हो तो प्रथमोपशम सम्यक्तव की प्राप्ति नहीं होती। उसी प्रकार अन्य सामग्री भव्यता, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तता, संज्ञी आदि सामग्री हो तो मिथ्यात्व के नहीं रहने पर भी जिन प्रकृतियों का बन्ध होना चाहिए उनका बन्ध नहीं होगा।

उसमें भी काल नियम मुख्य है। जितने काल तक जिस प्रकृति का बन्ध होता है उसके समाप्त होने पर उस प्रकृति का बन्ध नहीं होगा, उसका स्थान दूसरी प्रकृति ले लेगी।

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध उनके योग्य सामग्री रहने पर नियम से होता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि मिथ्यात्व गुणस्थान में अन्य प्रकृतियों का बन्ध ही न हो। उनमें से कितनों का विकल्प भी चलता है, कितनों का विकल्प नहीं चलता।

मिथ्यात्व, मिथ्यात्व आदि प्रकृतियों के बन्ध के लिये आसाधारण कारण है तथा दूसरी प्रकृतियों के बन्ध के लिये साधारण कारण है, क्योंकि उनका बन्ध अन्य गुणस्थानों में भी होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध हो तो मिथ्यात्व भाव होना ही चाहिए। स्त्रीवेद आदि का बन्ध हो तो मिथ्यात्व भाव रहे या न रहे, कोई बाधा नहीं आती। नपुंसक वेद का जितना बन्ध का काल है उतना काल समाप्त होने पर मिथ्यात्व भाव के रहते हुए भी उसका स्थान स्त्रीवेद आदि अन्य प्रकृति ले लेती हैं यह उसका तात्पर्य है। इसलिये काल भेद से या अधिकारी पुरूष के भेद से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध बन जाता है। अकिंचित्कर पुस्तक में अपनी मानी हुई दृष्टि को छोड़कर सर्वांग दृष्टि से विचार किया जाता तो अच्छा होता।

ऋजुसूत्रनय से ही विचार करें तो कषाय और योग तो प्रथम गुणस्थान में भी हैं, तो कषाय और योग से यह निर्णय क्यों नहीं होता कि मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध न होकर विवक्षित का ही बन्ध हो, अन्य का न हो ?

यदि कहो कि उसमें कषाय भाव की अपेक्षा मन्द-तीव्र भाव या ज्ञात-अज्ञात भाव मुख्य है और योग की अपेक्षा मन-बचन और काय के शुभ-अशुभ कम्पन में भी कम शुभ, अशुभ कम्पन और तीव्र शुभ-अशुभ कम्पन मुख्य हैं। इनके भेद से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध में भेद पड़ना स्वाभाविक है। यदि ऐसा है तो सब दृष्टि से यहां अकिंचित्कर पुस्तक में क्यों नहीं विचार किया गया है ? इसका हमें आश्चर्य है।

अब यहां अकिंचित्कर पुस्तक के अनुसार सामान्य प्रत्यय की अपेक्षा विचार करते हैं। वहां सामान्य प्रत्यय का लक्षण करते हुए अकिंचित्कर पुस्तक के पृ. ४७ में लिखा है कि "सामान्य प्रत्यय वे कहे जाते हैं जो कि बन्ध के समय उदय अस्तित्व में अपेक्षित होते हैं। इन सामान्य प्रत्ययों के अन्दर मिथ्यात्व आदि कई प्रत्यय रखे गये हैं।"

यह अकिंचित्कर पुस्तक का वक्तव्य है। यहां तो स्वीकार किया गया है कि मिथ्यात्व के बन्ध के लिये मिथ्यात्व भाव तो हो पर मिथ्यात्व भाव, मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियों के लिए बन्ध का कारण नहीं है, योग और कषाय ही बन्ध के कारण हैं, मिथ्यात्व भाव, मिथ्यात्व के लिए अकिंचित्कर है यह अकिंचित्कर पुस्तक का आशय मालूम पड़ता है। अब इस पर गहराई से विचार करें। उसमें भी पहले तो आगम से विचार करें। आगम में मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि करता है। उनका[१६०] संवर मिथ्यात्व के अभाव होने पर होता है। सर्वार्थसिद्धि के ६वें अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो आत्मा मिथ्यात्व प्रकृति कर्म के उदय के आधीन है वह मिथ्यादृष्टि है। इसके मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जिस कर्म का आस्त्रव होता है उसका मिथ्यादर्शन के अभाव में शेष रहे सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में संवर होता है[१६१]।

---

१६०. चदुहि मूलपच्चएहि पंचवंचासणाणासमय उत्तर पच्चएहि दस अट्ठारसेगसमय जहण्णुक्क स्सपच्चएहि य मिच्छाइट्ठी एदाओपयडीओ बंधइ। णवरि घ. पु. ८ सूत्र १५-१६ की टीका पृ. ४२-४४।

१६१. तत्र मिथ्यादर्शन प्राधान्येन यत्कर्म आस्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति। स. सि. अ. ६, पृ. ३१८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों में भी संवर किन-किन प्रकृतियों का होता है यह भी वहां बतलाया गया है। यहां वीरसेनाचार्य को यह लिखना चाहिए था कि मिथ्यात्व गुणस्थान में योग और कषाय से ही मिथ्यादर्शन १६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। परन्तु यह नहीं लिखा इससे मालूम पड़ता है कि मिथ्यात्व भी बंध का कारण है।

बन्ध के हेतुओं में से मिथ्यात्व रूप हेतु के अभाव होने से आगे मिथ्यात्व से बंधने वाली प्रकृतियों का अभाव हो गया, आगे के गुणस्थानों में भी यथायोग्य संवर लगा लेना चाहिए। बन्ध हेत्वभावनिर्जराम्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षोमोक्षः। (त्. स्. अ. १०, स्. २) 'बन्ध के हेतुओं का अभाव होने से नये कर्मों का आस्त्रव रूकता है और निर्जरा से बंधे हुए कर्मों का अभाव होता है।

इस अपेक्षा से मिथ्यात्वभाव १६ प्रकृतियों के नये बन्ध की अपेक्षा विशेष प्रत्यय हुआ। और मिथ्यात्व गुणस्थान में जितनी अन्य प्रकृतियों का अधिकारी भेद से एक समय में या नाना समयों में बन्ध होता है वह सामान्य प्रत्यय हुआ, क्योंकि उनका बंध द्वितीयादि गुणस्थानों में भी होना संभव है। यह विशेष प्रत्यय और सामान्य प्रत्यय का विचार है[१६२]।

यदि कहा जाय कि योग और कषाय तो प्रथमादि गुणस्थानों में भी हैं। उनसे नया बन्ध माना जाय तो क्या आपत्ति है? यह एक प्रश्न है। उसका समाधान यह है कि योग और कषाय तो आगे के गुणस्थानों में भी हैं, यदि मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का नया बन्ध मात्र उनसे माना जाता है, तो मिथ्यात्व में उन प्रकृतियों का बन्ध होकर भी अन्य गुणस्थानों में भी मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का नया बन्ध होना चाहिए। दूसरे आदि अन्य गुणस्थानों में उन १६ प्रकृतियों का संवर नहीं होना चाहिए। मिथ्यात्व गुणंस्थानों में ही मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का नया बन्ध होता है। अन्य गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का नया बन्ध क्यों नहीं होता? यह प्रश्न योग और कषाय को ही बन्ध का कारण मानने पर उपस्थित होता है, इसलिये मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में जो नया बन्ध होता है, उसका कारण उन-उन गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि को नये बन्ध का कारण मान लेना आवश्यक है, यह इस कथन का निष्कर्ष है।

३३. पुनः लक्ष्य का प्रतिपादन :-

फिर वेदनाप्रत्यय अनुयोग द्वार में १२वें और १३वें सूत्र की रचना क्यों की? "जोगापयडिपदेसेट्ठिदी अणुभागे कसायदो कुणदि" यह गाथा सर्वत्र लिपिबद्ध हुई है सो नहीं होनी चाहिये थी[१६३]? तत्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय में जो दूसरे सूत्र की रचना हुई है, उसे नहीं रचा जाना चाहिए था[१६४]? इन सब उल्लेखों से यद्यपि ऐसा ही जान

---

१६२. स. सि. अ. ८, सू. १, मिथ्यादृष्टिः पंचापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। आदि। मिच्छत्तणवुंसकवेद–णिरायु, णिरयगदि–चदुजादि-हुंड सं.–असंपत्तसेवट्ट णिरयगदि पाओगाणुपुव्वि–आदाव-थावर–सुहुम–अपज्जत्त–साधारण–को बंधो को अबंधो? मिच्छाइट्ठी बंधा अवसेसा अबंधाः। महा बं. भाग१, पृ. ३१।

१६३. ध. पु. १२, पृ. २८९।

१६४. स. सि. अ. ८ सू. २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ता है कि ग्रन्थकार को सर्वत्र योग और कषाय को नये बन्ध में बन्ध का हेतुपना स्वीकार है क्या ?

समाधान :—यह है कि जैनधर्म में सर्वत्र नय विवक्षा से कथन किया गया है[१६५], और स्थूल ऋजुसूत्रनय से योग और क़षाय मात्र नये बन्ध के हेतु हैं और शब्दादि तीन नयों से अवक्तव्य है।

शंका :—वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार के १३ वें सूत्र की टीका में यह कथन किया गया है कि द्रव्यार्थिक तीनों नयों की अपेक्षा प्राणातिपातादिकों को प्रत्यय बतलाना कैसे उचित है ?

समाधान :—नहीं, क्योंकि, उनके होने पर ज्ञानावरणीय का बन्ध पाया जाता है[१६६]। कारण, कार्य वाले अवश्य हों, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि घटको नहीं करने वाले कुम्भकार को भी कुम्भकार शब्द का व्यवहार पाया जाता है। दूसरे पर्याय के भेद से वस्तु का कोई भेद नहीं होता है, क्योंकि, वस्तु-भिन्न पर्याय का अभाव है, तथा इस प्रकार से समस्त लोक व्यवहार के नष्ट होने का प्रसंग प्राप्त होता है। न्याय की चर्चा लोक व्यवहार की प्रसिद्धि के लिये ही की जाती है। लोक व्यवहार के बहिर्गत न्याय नहीं होता है, किन्तु वह केवल न्यायाभास ही है। इसलिये उक्त नैगमादि नयों में प्राणातिपातादिकों को प्रत्यय बतलाना योग्य ही है, अर्थात् इनमें कारणता बन जाती है।

इस पूरे कथन का आशय यह है कि चाहे संकल्पपूर्वक प्राणातिपात आदि कार्य किये हों या बिना संकल्प के, जैसे किसी का वध आदि कार्य हो जाय तो भी वह व्यक्ति लोक में दोष का भागी माना जाता है। यह वस्तुस्थिति है। फिर भी अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४८ में प्राणातिपात का अर्थ सीधा प्राणों का व्यपरोपण ही लिया गया है। इसी तरह आगे मृषावाद प्रत्यय, अदत्तादान प्रत्यय, मैथुन और परिग्रह का अर्थ किया गया है[१६७]। इसी सन्दर्भ में रात्रिभोजन भी एक प्रत्यय के रूप में रखा गया है। अब अगर देखा जाये तो, जो महाव्रती मुनि महाराज हैं उनका तो इन सभी क्रियाओं का मन, वचन, काय से अंतरंग-बहिरंग रूप से सर्वथा परित्याग है, फिर उनके तो आठों कर्मों का बन्ध नहीं होगा ? इसलिए प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन आदि इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध नहीं होता। क्योंकि इनके बिना भी अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती जीवों के इनका बन्ध होता है[१६८]। तब यहाँ समाधान दिया गया है कि वह प्रत्यय व्यवस्था तो नैगम, संग्रह और व्यवहार नयों की अपेक्षा की गयी है। अतः यह सभी सामान्य प्रत्यय माने जाते हैं। उन्होंने कहा —

---

१६५. ध. पु. १२, पृ. २८६।
१६६. ध. पु. १२, पृ. २८६।
१६७. ध. पु. १२, पृ. २७८-२८०।
१६८. ध. पु. १२, पृ. २८०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रत्ययों को सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिये इन सामान्य प्रत्ययों का विवक्षित किया गया है[१६६]।

यह अकिंचित्कर पुस्तक के आधार से बहुभाग कथन है। अब क्रमशः इसका समाधान किया जाता है।

यदि द्रव्यार्थिकनय का कथन सामान्य की विवक्षा में सामान्य का अर्थ द्रव्य करके माना जाये तो जैसा अकिंचित्कर पुस्तक में प्राणातिपात आदि का अर्थ किया है एक अपेक्षा से वह ठीक कहा जा सकता है। परन्तु द्रव्य का लक्षण गुण-पर्याय वाला करके किया जाता है, तो अकिंचित्कर पुस्तक का कथन ठीक नहीं बैठता, क्योंकि प्राणातिपात का अर्थ प्राणों से प्राणी का वियोग होकर भी वह जिस मन, वचन और काय के व्यापार आदि से होता है वह भी प्राणातिपात है। इसी प्रकार मृषावाद का अर्थ असत्य वचन करके भी वह मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचन समूह का नाम भी वह मृषावाद है। अदत्तादान का अर्थ न दी हुई वस्तु का ग्रहण करना किया है। वही है प्रत्यय, इसलिए वह अदत्तादान प्रत्यय कहलाया। उससे ज्ञानावरणीय वेदना होती है। मैथुन का अर्थ सीधा स्त्री-पुरुष विषयक व्यापार क्रिया है। वह मन, वचन और कार्य रूप होता है। इसलिये वह मैथुन कहलाता है। जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। उससे क्षेत्रादि बाह्य वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिये उसका अर्थ हुआ कि जिस भाव से ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। जो खाया जाता है वह भोजन है। इसका अर्थ है कि जिस परिणाम से खाया जाता है वह परिणाम भोजन है[१७०]। इसमें खाद्यादि सब पदार्थ आ जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणातिपात में वह परिणाम लिया गया है जो प्राणातिपात आदि का कारण है।

शंका :—प्राणातिपात का अर्थ हिंसाविषयक जीव का व्यापार है, वह तो पर्याय है और पर्याय एकांत से कारण नहीं हो सकती।

समाधान :—जिसने परपक्ष को आकर्षित किया है वह पर्याय प्रधानता से कारणता को प्राप्त हो जाती है।

शंका :—पर्याय की सप्तमी विभक्ति में उत्पति कैसे हो सकती है?

समाधान :—नहीं, क्योंकि प्राणातिपात के विषय में ज्ञानावरणीय कर्म की वेदना होती है ऐसा सम्बन्ध करने पर विषयार्थक सप्तमी विभक्ति के बनने में कोई विरोध नहीं आता[१७१]। अथवा तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति जाननी चाहिये। इसलिये इसका अर्थ हुआ कि प्राणातिपात प्रत्यय के कारण ज्ञानावरणीय आदि वेदना होती है यह सूत्र का अर्थ सिद्ध हो जाता है। इसलिये न तो एकान्त से द्रव्य से कोई कार्य बनता है और न एकान्त रूप पर्याय से कोई कार्य बनता है किन्तु पर्याय से अनुगत द्रव्य ही कार्य के होने में निमित्त माना गया है।

---

१६६. ध. पु. १२, पृ. २८१।
१७०. ध. पु. १२, सू. ६-७, पृ. २८२।
१७१. ध. पु. १२, पृ. २७६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

इसी कारण सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कार्यकारी नहीं माना गया है। वहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय की विवक्षा करनी पड़ती है। इसी सम्बन्ध में वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार के १४ वें सूत्र की टीका का अनुवाद यहाँ दे देना चाहते हैं जो इस प्रकार है –

"स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार का है। उनमें प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग से तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं, इस प्रकार आठों कर्मों के दो प्रत्यय प्राप्त हुए।"

शंका :– उक्त दो ही प्रत्यय आठों कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप बत्तीस बन्धों (आठ प्रकार के कर्मों का चार प्रकार का बन्ध ८ x ४ = ३२) की कारणता को कैसे प्राप्त हो सकते है ?

समाधान :– नहीं, क्योंकि अशुद्ध पर्यायार्थिकरूप ऋजुसूत्रनय में अनन्त शक्ति संयुक्त एक द्रव्य के अस्तित्व में कोई विरोध नहीं आता।

शंका :– वर्तमान काल विषयक ऋजुसूत्रनय में वस्तु का (पर्यायान्तर में गमनरूप) द्रवण का अभाव होने से ऋजुसूत्र नय का विषय द्रव्य नहीं हो सकता, इसलिये ऋजुसूत्रनय में ज्ञानावरणीयवेदना नहीं बन सकती ?

समाधान :– ऐसा कहने पर उसका उत्तर है कि ऐसा मानना ठीक नही है, क्योंकि वर्तमान काल व्यंजनपर्याय का अवलम्बन लेकर अवस्थित है तथा वह अपने अवयवों को प्राप्त है, अतः उसके द्रव्य होने में कोई विरोध नहीं है। अथवा विवक्षित पर्याय से वर्तमानता को प्राप्त वस्तु का अनर्पित पर्यायों में द्रवण का विरोध न होने से ऋजुसूत्रनय का विषय द्रव्य बन जाता है[१७२]।

इस प्रकार अशुद्ध ऋजुसूत्रनय में द्रवण की विवक्षा कर सभी कर्मों का चारों प्रकार का बन्ध घटित किया गया है[१७३]।

अकिंचित्कर पुस्तक पृ० ४६ में सामान्य प्रत्यय की विवक्षा में नैगम, संग्रह और व्यवहारनयों की अपेक्षा की गई है। अतः वे सभी सामान्य प्रत्यय माने जाते हैं। उसमें कहा –"ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रत्ययों का सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिये इन सामान्य प्रत्ययों को विवक्षित किया गया है।" यहाँ सामान्य प्रत्ययों की पुष्टि में जो उद्धरणरूप प्रमाण दिये गये है उनमें कहीं भी सामान्य प्रत्यय शब्द नही कहा गया है। देखो टिप्पण प्रमाण १६०–१६१, अ. किं. पृ. ४६।

यहाँ हमें इतना ही कहना है कि सर्वत्र अकिंचित्कर पुस्तक की यही स्थिति है। किसी विशिष्ट प्रयोजन को सामने रखकर कहीं भी कोई कथन किया जाये तो यही स्थिति होती है। वैसे देखा जाये तो अकिंचित्कर पुस्तक में टिप्पण के प्रमाण १५२ से लेकर १५८ तक की स्थिति यही है। उनका मिथ्यात्व बन्ध में अकिंचित्कर है इससे

---

१७२. ध. पु. १२, पृ. २९० ।

१७३. ततस्तत्र तेषां कारणत्वं युज्यत इति । ध. पु. १२, पृ. २८९ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई सम्बन्ध नहीं। यह तो विषयान्तर है। यहाँ तो यह बतलाना था कि मिथ्यात्व नये कर्मबन्ध में निमित्त है या नहीं[१७४]।

वेदना प्रत्यय अधिकार में पृ. २७५ से पृ. २८३ तक टीका में जो सूत्रार्थ दिया गया है उसे अकिंचित्कर पुस्तक में ध्यान में नहीं लिया गया है[१७५]। इस प्रकार यह अकिंचित्कर पुस्तक का आशय मालूम पडता है। यदि कोई शंका करे कि नैगमादि तीन नयों की विवक्षा में आठों कर्मों की जो टीका वीरसेन स्वामी ने की है वह प्रकृत में घटित नहीं होती, इसलिये यहाँ द्रव्यार्थिकनय को ध्यान में रखकर सूत्रों का मात्र उल्लेख कर दिया है?

समाधान यह है कि सूत्रों की जो टीका वीरसेन स्वामी ने की है वह जैसे भावनिक्षेप द्रव्यार्थिकनय का विषय बन जाता है वैसे उक्त सूत्रों की टीका भी द्रव्यार्थिक नय का विषय बन जाती है[१७६]।

द्रव्यार्थिकनयों में मुख्य नैगमनय है। उसका लक्षण है –जो है वह द्रव्य और पर्याय को छोड़कर नहीं रहता। इस प्रकार जो एक को नहीं प्राप्त होता है उसको नैगमनय कहते हैं। किन्तु मुख्य और गौण भाव से द्रव्य और पर्याय दोनों को ग्रहण करता है उसका नाम नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म-कार्य-कारण, आधार-आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत-भविष्यत-बर्तमान इत्यादिक का आश्रय कर होने वाला उपचार नैगमनय का विषय है[१७७]।

इससे हम जानते हैं कि वीरसेन स्वामी ने आगम के आधार पर ही उक्त सूत्रों का अर्थ किया है, क्योंकि उनके लिये आगम मुख्य है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय तो एक समय की पर्याय को ही ग्रहण करता है। उसमें कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता। इसलिये स्थूल व्यंजन पर्याय के माध्यम से स्थूल ऋजुसूत्र का विभाग किया गया है। उसमें आधार-आधेयभाव और कार्य-कारण भाव घटित किया जा सकता है, क्योंकि उसका विषय एक तरह से नैगमनय के समान हो जाता है। इतनी विशेषता है कि वह

१७४. जदि एवं तो दव्वट्ठयणएस तीसु वि पाणादिवादादीणं।
पच्चयत्तं कत्तो जुज्जदे। ण तेसु संत्तेसु णाणावरणीयबन्धुवलंमादो।
णच पर्यायमेदेन वस्तुनो मेदः, तदव्यतिरिक्तपर्यायामावा सकललोकव्यवहारोच्छेप्रसंगात्। घ. पु. १२, पृ. २८६।

१७५. ज. घ. मा., पृ. २४४ से।

१७६. ण च उजुसुदो पज्जवट्ठिए णए दव्वणिक्खेवो ण संभवइ, वंजणपज्जायरूवेण अवट्ठियस्स वत्थुस्स अणेगेसु अत्थ विंजणपज्जाएसु संचरंतरस दव्वमावुवलंमादो। वंजणपज्जायविसयस्स उजुसुदस्स बहुकालावट्ठांण होदिमत्तिणासंकणिज्जं; अप्पिदवंजणपज्जायअवट्ठाणकालरस दव्वस्स वि वट्ट माणत्तणेण गहणादो। ज. घ. पु. १, पृ. २६३-२६४।

१७७. तत्थ णेगम-संगह-ववहार-ग्गेसु सव्वे एदे णिक्खेवो हवंति तव्विसयम्मि तब्भव-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव-संमवादो। कधं दव्वट्ठिय-णये माव-णिक्खेवस्स संमवो? ण, वट्टमाण-पज्जायो-वलिक्खियं दव्वं मावो इदि दव्वट्ठिय-णयस्स वट्टमाणमवि आरंमप्पहुडि आ उवरमादो। घ. पु. १, पृ. १४-१५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्यायार्थिकनय के विषय को नहीं छोड़ता है। फिर भी अनेक पर्यायों को ग्रहण कर उसमें द्रव्यपना घटित किया सकता है[१७८]।

३४ द्रव्यार्थिकनय का मुख्य विषय

यह कहा जाता है कि द्रव्यार्थिकनय के विषय में द्रव्य की मुख्यता है, तो द्रव्यार्थिकनय का विषय क्या है ? यदि यह पूछा जाय तो वह तद्भवसामान्य (ऊर्ध्वतासामान्य) और सादृश्य सामान्य ये दोनों मिलकर उसके विषय बन जाते हैं[१७६] पर पर्याय को सामान्य में गर्भित कर उसका विषय बनता है। ऐसा यहाँ जानना चाहिए, अन्यथा स्थूल ऋजुसूत्रनय तथा भावनिक्षेप उसका विषय नहीं बन सकता। प्रमाण हम पहले दे आये हैं। इस प्रकार स्थूल ऋजुसूत्रनय और भावनिक्षेप की अपेक्षा तद्भव सामान्य अर्थात ऊर्ध्वता सामान्य और सादृश सामान्य द्रव्यार्थिकनय के विषय बन जाते है इसमें कोई आपत्ति नहीं आती।

३५ अनन्तानुबंधी चार सम्यग्दर्शन की कैसे चोर हैं ?

पुरुषार्थसिद्धि के १२४वें श्लोक में जो यह कहा गया है कि अनन्तानुबंधी चार सम्यग्दर्शन को चुराती है, इसलिये वह चोर है, सो वह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि चोर उसे कहते हैं जो दूसरे के माल को चुराता है। वस्तुतः यह माल सम्यग्दृष्टि का है। मिथ्यात्वकर्म उस पर डाका डालता है। अनन्तानुबंधी चारतो उस पर डाका नहीं डाल सकता, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय में अनन्तानुबंधी का उदय हो या न हो, इसलिए तो मिथ्यात्व कर्म सम्यग्दर्शन पर डाका डालने वाला हुआ। मिथ्यात्व कर्म का उदय सम्यग्दर्शन को हर लेता है[१८०] अनन्तानुबंधी चार सासादन गुणस्थान में कुछ काल तक सम्यग्दर्शन को रोक रखता है, क्योंकि उस समय मिथ्यात्त्व का वहां उदय नहीं है। इसलिये वह अनन्तानुबंधी चार सम्यक्तत्व को चुराने वाली हुई। वह चोर तो है पर मिथ्यात्व के समान सर्वस्व हरनेवाली नहीं। जैसे मिथ्यात्व अनादिकाल से सम्यक्त्व का अपहरण करके बैठा है वैसे अनन्तानुबंधी चार में कुछ काल तक ही अर्थात् सासादन गुणस्थान में सम्यक्तव का अपहरण कर सकती है, चिरकाल तक नहीं, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अतः अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व की जननी तो नहीं क्योंकि अनन्तानुबंधी चार अल्प पाप रूप है। अतः उसका प्रथम क्षय होता है[१८१] इसलिये यहाँ जो ११८ नं. का प्रमाण दिया है वह निरर्थक है। वह निरर्थक इसलिये

---

१७८. अप्पिदपज्जाएण वट्टमाणत्तमावण्णस्स वत्थुस्स अणप्पिद पज्जाएसु दवणविरोहाभावादो वा अत्थि उजुसुदणयविसए दव्वमिदि। ध. पु. १२, पृ. २६०।

१७६. तव्विसयम्मि तब्भव-सारिच्छ-सामण्णम्हि सव्व-णिक्खेव संभवादो। ध. पु. १, पृ. १४।

१८०. न हि सम्यक्त्वसमं किंचितत्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि। श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम॥ रत्न. श्रा. गा. ३४।

१८१. अविसंजोइदाणंताणुबंधि चउक्कस्स वेदयसम्माइट्ठिस्स कसायोवसामणाणिबंध णदंसणमोहोवसामणादिकिरियासु पवुत्तीए असंभवादो। ज. ध. पु. १३० पृ. १६६-१६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि मिथ्यात्व का बाद में क्षय क्यों होता है इसका अकिंचित्कर पुस्तक में विचार ही नहीं किया गया है।

उपसंहार स्वरूप ऐसा समझना चाहिए कि मिथ्यात्वकर्म जैसे आप्त, आगम और पदार्थों में विपरीत श्रद्धा को उत्पन्न करता है, वैसा अनन्तानुबंधी चार नहीं कर सकती। वह स्वरूपाचरण चारित्र का सम्यकत्वाचरण चारित्र का तो घात कर सकती पर मिथ्यात्व के उदय के बिना नहीं। मिथ्यात्व का बल पाकर ही वह स्वरूपाचरण चारित्र का घात कर सकती है, क्योंकि वह चारित्र मोहनीय की प्रकृति है, दर्शनमोहनीय की प्रकृति नहीं। फिर भी दूसरा गुणस्थान इसका अपवाद है।

शंका :—सासादन गुणस्थान में भी विपरीताभिनिवेश तो होता है, किन्तु वहाँ मिथ्यात्व के उदय का बल नहीं है ?

समाधान :—अनन्तानुबंधी चार चारित्र मोहनीय की प्रकृतियाँ है वे स्वरूपाचरण चारित्र अथवा सम्यक्त्वाचरण चारित्र को नहीं होने देती, इसीलिये पर्यायान्तर से उसे भी सम्यकत्व का घात करने वाली प्रकृति कही गयी है। पर दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा न होने से मिथ्यात्व का बल नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि जैसा मिथ्यात्व गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश होता है वैसा दूसरे गुणस्थान में नहीं होता[१८२]। इसीलिए अनन्तानुबंधी को द्विस्वभावी[१८३] स्वीकार कर लिया है। अनन्तानुबंधी द्विस्वभावी है यह कैसे जाना जाय ? यदि यह शंका उपस्थित की जाये तो कहना पड़ता है कि उसका निर्णय मूल आगम से तो नहीं होता, पर तर्क के बल पर टीकाकारों को निर्णय लेना पड़ा है, क्योंकि सम्यक्त्वाचरण चारित्र का वह घात करती है, और वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र सम्यक्त्व का अविनाभावी है। ये दोनों एक साथ होते हैं। किन्तु मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा तो दूसरे, गुणस्थान में नहीं है, पर अनन्तानुबंधी की उदय-उदीरणा है और वह सम्यक्त्वाचरणचारित्र का घात करती है, इसीलिए उसे द्विस्वभावी कहा गया है, क्योंकि वही सम्यक्त्वाचरण चारित्र सम्यकत्व का अविनाभावी है। जिसके सम्यक्त्व के आठ अंगों में अमूढ़ दृष्टि अंग होता है वह ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरणचारित्र के महत्व को स्वीकार करता है[१८४]। यदि संयमाचरण चारित्र न हो तो उसके सम्यक्त्वाचरण चारित्र तो होना ही चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनन्तानुबन्धी को द्विस्वभावी क्यों कहा—इसका समाधान मिल जाता है।

---

१८२. दंसणं अत्तागम-पदत्थेसु रुई पच्चो सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो। तंमोहेदिविवरीयं कुणदि त्ति दंसणमोहणीयं। ध. पु. ६, पृ. ३८।

१८३. अपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशादभावात न तस्य मिथ्यादृष्टि व्यपदेशः, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते । ध. पु. १, पृ. १६४ तथा अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। ध. पु. १, पृ. १६५।

१८४. एएतिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया। तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं॥४॥ जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं। विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि॥५॥ सम्यक्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ वि सुपसिद्धा। णाणी अमूढदिट्ठि अचिरे पावंति णिव्वाणं॥६॥ पृ. ७९-८० तथा ८५, अष्ट पा., चा. पा. भाषावचनिका सहित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यात्व के समान अनन्तानुबंधी को नोकर्म कर्मकाण्ड में षटअनायतन आदि क्यों कहे ? उसका समाधान भी पहले जो कथन कर आये है उससे हो जाता है। जब अनन्तानुबंधी कषाय होने के कारण वह स्वरूपाचरण सम्यक्त्वाचरण चारित्र का प्रतिबन्ध करती है और वह सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अविनाभावी है तो उसका घातक वही नोकर्म होंगे जो मिथ्यात्व के नोकर्म हैं इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि एक अपवाद को छोड़कर मिथ्यात्व के उदय के साथ अनन्तानुबंधी का भी उदय होता है। मात्र दूसरा गुणस्थान उसका अपवाद है। वहाँ मिथ्यात्व का उदय नहीं होता और अनन्तानुबंधी में से किसी एक प्रकृति का उदय होता है। इसीलिए दूसरे गुणस्थान में विपरीताभिनिवेश कहा है।

धवला १४ वीं पुस्तक में विपाकप्रत्ययिक भाव गिनाये गये हैं, इसलिये मोह की अपेक्षा मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी विपाकप्रत्ययिक गिनाते समय उन दोनों को सामान्य से मोह में परिगणित कर लिये गये हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है। मात्र राग और द्वेष में मिथ्यात्व को छोड़ दिया गया। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में राग भी होता है और द्वेष भी। इसलिये मात्र द्वेषरूप प्रकृतियों के उदय में तथा रागरूप प्रकृतियों के उदय में परिगणित नहीं किया गया। तथा अनन्तानुबंधी चार को दोनों में विभाजित कर दिया गया। मोह सामान्य के उदय में २८ प्रकृतियों का उदयबनजाताहै, मोह विशेष के उदयमें नहीं। यदि अकिंचित्कर पुस्तक में यह खुलासा मिल जाता तो पाठकों को भ्रम नहीं होता।

३६ विपरीताभिनिवेश का आशय :-

अनन्तानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात होता है। उसे ही यहाँ विपरीताभिनिवेश कहा गया है, क्योंकि विपरीताभिनिवेश का सद्भाव कहो या सम्यक्त्वाचरणचारित्रका घात, ये दोनों यहाँ पर्यायवाची बन गये हैं, इसीलिये यहाँ अनन्तानुबंधी को द्विस्वभावी मान लिया गया है।

यदि हम पूछें कि द्विस्वभावी का अर्थ क्या है ? उससे सम्यक्त्व के साथ कौन से चारित्र का घात होता है ? द्विस्वभावी का अर्थ तो हम ऊपर स्पष्ट कर ही चुके हैं। अब चारित्र सम्बन्धी स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि देशचारित्र का घात करने वाली प्रकृति तो अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अनन्तानुबन्धी के उदय से तो देशचारित्र का घात होता नहीं। फिर कौन से चारित्र का घात अनन्तानुबन्धी का उदय करता है ? तो कहना पड़ेगा कि सम्यक्त्वाचरण चारित्र का घात उसके उदय से होता है। आगम के जानकार उसे ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। उसे ही आत्मा का अनुभव कहते है, क्योंकि वह आत्मा का अनुभवस्वरूपाचरण चारित्रस्वरूप होता है। इसीलिये अविरत सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शनादि तीनों की एकता बन जाती है। अविरत सम्यग्दृष्टि के संयमाचरण चारित्र नहीं होता, फिर भी वह मोक्षमार्गी हो गया है, क्योंकि उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो होता ही है, और उसके सम्यक्त्वाचरण चारित्र भी होता है। उसी का नाम ज्ञानानुभूति है[१८५]। ज्ञानानुभूति का नाम ही आत्मानुभूति है। उसी को समय प्राभृत के कलश काव्य में इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है –

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ ६२ ॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनःसमन्तात् ॥ १३ ॥

अर्थ :–आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है। ज्ञान से अन्य किसको करे? किसी को नहीं करता। परभाव का कर्ता आत्मा है, यह कहना व्यवहारीजनों का मोह (अज्ञान) है ॥ ६२ ॥

शुद्धनय के विषयस्वरूप जो आत्मा की अनुभूति है वही ज्ञान की अनुभूति है। ऐसा अच्छी तरह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल कर सदा सब तरफ एक आत्मा ही है इस प्रकार देखना चाहिए ॥ १३ ॥

यह केवल आत्मख्याति टीका का आशय नहीं है, तात्पर्यवृति टीका का भी यही अभिप्राय है[१८६]। इसलिये अनन्तानुबंधी चार चारित्रमोहनीय की प्रकृति होने के कारण वह स्वरूप का अनुभव नहीं होने देती। उसी को सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अभाव कहते हैं। विसंयोजना करनेवाला जीव यदि सीधा मिथ्यात्व में आता है तो उसके मिथ्यात्व का उदय होने पर भी एक आवलि काल तक अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होता। उस समय मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय होने से ही सम्यक्त्व का अभाव रहता है, इसलिये स्वरूपानुभव का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि वह सासादन गुणस्थान में आता है तो अनन्तानुबंधी का उदय होने पर भी मिथ्यात्व का अभाव होने से आत्मानुभूति के बिना सम्यक्त्व का सद्भाव होना चाहिए ? पर आगम कहता है कि चौथे आदि गुणस्थानों से गिरकर सासादन गुणस्थान में आते समय उसके सम्यक्त्व का नाश हो जाता है[१८७]। इसलिये उसके अनन्तानुबन्धी के उदय के होने पर मिथ्यात्व का उदय न होने पर भी जब सम्यक्त्व नहीं होता तो आत्मानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सम्यक्तव के साथ ही आत्मानुभूति होती है, उसके बिना नहीं।

शंका :–सम्यक्त्व के काल में भी आत्मानुभूति का कोई नियम नहीं है, वह होती भी है और नहीं भी होती। आप कहते हैं सम्यक्त्व के साथ आत्मानुभूति होती है सो यह बात कैसे बने ?

---

१८५. सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥ किंच सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितवशदैकज्ञानाकारमात्मनंश्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि। अ. च. टी.। प्र. सा. गा. २३७।

१८६. अ. ख्या. टीका तथा तात्पर्य वृ त्ति टी. गा. १३-१६ ।

१८७. णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ गो. जी. गा. २० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—सम्यक्त्व रहे और उपयोग आत्मा की ओर न होकर संसारी कामों की ओर हो तो सम्यक्त्व के रहने पर भी आत्मानुभूति नहीं होती, उसका उपयोग संसारी कामों में लगा रहता है, किन्तु वह ज्ञान–वैराग्य सम्पन्न अवश्य होता है[१८८]। सम्यक्त्वी के अनन्तानुबंधी का अभाव अवश्य ही रहता है। इसलिये संसार के कामों में उतनी प्रगाढ़ता नही होती जितनी मिथ्यादृष्टि के होती है। सम्यक्त्व के काल में अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के रहते हुए भी शेष प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का उदय अबुद्धिपूर्वक हो जाता है। यह उपयोग की विशेषता है कि कषायों का उदय रहे पर उसको अनुभवे नहीं[१८९]। कभी-कभी यह स्थिति मिथ्यात्व गुणस्थान में भी बनती है। विशेषरूप से सम्यक्त्व की प्राप्ति के सन्मुख होने पर तो अवश्य बनती है। उस अवस्था में मिथ्यात्व का अव्यक्त उदय रहता है, अन्यथा आगे के गुणस्थनों की प्राप्ति नहीं बन सकती। मिथ्यात्व का अति मन्द उदय कहो या अव्यक्त उदय कहो, दोनों का अर्थ एक है।

३७. रात्रि भोजन और महाव्रती साधु :-

यह बात सही है कि महाव्रती साधु रात्रि भोजन का पहले ही त्याग कर आया है, इसलिये महाव्रती मुनि के बुद्धिपूर्वक रात्रि भोजन नहीं बन सकता। यह बात दह जानताहै कि, मेरे अन्तरंग और बहिरंग रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग है। अंतरंग से तो वैसी कषाय नहीं होती कि क्षुधा की निवृत्ति के लिये मैं भोजन ग्रहण करूं, और बहिरंग से उसने गुरू की साक्षीपूर्वक वैसा व्रत लिया है, यह सही है। किन्तु अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ४६ में जो यह लिखा है कि अब अगर देखा जाये तो, जो महाव्रती-मुनि महाराज हैं, उनका तो इन सभी क्रियाओं का मन, वचन, काय से अंतरंग-बहिरंग रूप से सर्वथा परित्याग है। फिर उनको तो आठों कर्मों का बन्ध नहीं होगा। इसीलिये प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि भोजन आदि इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध नहीं होता, क्योंकि इनके बिना भी अप्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती जीवों के भी इनका बन्ध नहीं होता, क्योंकि इनके बिना भी अप्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती जीवों के भी इनका बन्ध होता है। तब यहाँ समाधान दिया गया है कि वह प्रत्यय व्यवस्था तो प्रकृत में नैगम, संग्रह और व्यवहारनयों की अपेक्षा की गयी है, अतः ये सभी सामान्य माने जाते हैं।

यह अकिंचित्कर पुस्तक का कथन है। इसलिये इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। फिर भी प्राणातिपात आदि प्रत्यय बन्ध के कारण हैं या नहीं, इन पर हम पहले ही विचार कर आये है। यहाँ तो मात्र रात्रि-भोजन अबुद्धिपूर्वक महाव्रती-मुनि के बनता है या नहीं यह देखना है।

---

१८८ सम्यग्दृष्टेर्मवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः ॥ स. सा.क. श्लोक १३६।

१८९. अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बु द्धिपू र्व व्यपे क्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरूषात् ॥९१॥ आ. मी. श्लोक ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगम में नैगमादि नयों से महाव्रती—मुनियों के ५ भेद माने गये हैं—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। इनको आश्रय कर महाव्रती का अर्थ तत्वार्थराजवार्तिक में इस प्रकार किया है कि, सम्यग्दर्शन के साथ जिसके नग्नता है उसे आगम में निर्ग्रन्थ माना गया है[१६०]। केवल नग्नता हो तो उसे निर्ग्रन्थ नहीं माना गया है। इसी लक्षण को ध्यान में रखकर उक्त पाँचों निर्ग्रन्थ माने गये हैं। वे शिष्य आदि परिग्रह से जुदे नहीं है, अन्तरंग और बहिरंग से जो परिग्रहरहित हैं, जो कथंचित् उत्तरगुण की विराधना से युक्त हैं वे मुनि प्रतिसेवना कुशील हैं। इसी प्रकार पुलाक भी प्रतिसेवना से युक्त होते हैं, वे पाँच मूलगुणों का और रात्रिभोजन के त्याग का पर की बलजवरी से किसी एक नियम को तोड़ देते हैं[१६१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि, महाव्रती साधु के भी रात्रि भोजन बन जाता है। वह पर की बलजवरी से बने, पर बन तो जाता है।

इसी बात को भगवती आराधना में भी कहा है —क्षपक रोग के वशतैं, विलाप करने लगि जाय—प्रलाप करने लगि जाय, अथवा अयोग्यवचन कहै; अथवा गुणश्रेणीतैं उतरने की बुद्धि कूं प्राप्त भया क्षपक, छठा रात्रिभोजन कूं चाहै, तथा द्वितीय भोजन जो जलपान ताकूं याचै, तथा प्रथम जो भोजन ताकूं याचने लगि जाय आदि —पृ. ४८२

अहो बड़ा अनर्थ है ! जो, मैं त्रैलोक्य में दुर्लभ ऐसा संयम अंगीकार करकै अर अकाल में भोजनपान की इच्छा करूं हूँ ! अवार हमारे संन्यास का अवसर मैं समस्त आहारपान का त्याग का अवसर है, मैं समस्तसंघ को साक्षी करिकै समस्त च्यारि प्रकार का आहार का त्याग किया है (गा. १५०८)।

३८ सब प्रत्यय निमित्त मात्र हैं कोई सामान्य नहीं और न कोई विशेष :-

अकिंचित्कर पुस्तक में पृ. ५० पर लिखा है कि "विशेष प्रत्यय की चर्चा करते हुए ऋजुसूत्रनयके आश्रित इनसे अलग ही प्रत्यय कहे गये है, कारण कि, वे साक्षात बन्ध की नियामकता से सम्बन्ध रखते हैं। ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में दो ही प्रत्यय कहेगये हैं —कषाय और योग। योग को प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तथा कषाय को स्थिति और अनुभाग बन्ध का नियामक प्रत्यय कहा गया है।"

अब इस पर विचार किया जाता है। यह तो हम पहले ही प्रमाण सहित लिख आये हैं कि कार्य-कारणभाव नैगमनय का विषय है। संग्रहनय और व्यवहारनय को नैगमनय के साथ ग्रहण कर लिया गया है, क्योंकि ये तीनों नय द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कथन करते हैं। अब रहा पर्यायार्थिकनय का एक भेद ऋजुसूत्रनय तो, सूक्ष्म

---

१६०. दृष्ट्या सह यत्र रूप तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः। त. वा. अ. ९, सू. ४६।
१६१. प्रतिसेवना-पंचानां मूलगुणानां रात्रिभोजन वर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। स. सि. सू. ४७। त. वा. सू. ४७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋजुसूत्रनय मात्र एक समय की पर्याय को ही ग्रहण करता है, इसलिये उसमें कार्य-कारण भाव नहीं बन सकता, इसीलिये ऋजुसूत्रनय के सूक्ष्म और स्थूल दो भेद करके स्थूल ऋजुसूत्रनय में अन्वय रूप द्रव्यपने की अपेक्षा कार्यकारण भाव घटित किया गया है[१६२]। यह व्यवस्था द्रव्यार्थिकनय के तीनों भेदों में और स्थूल ऋजुसूत्रनय में बन जाती है, क्योंकि द्रव्य और पर्याय को मुख्यकर इन नयों का विषय घटित किया गया है। यहाँ द्रव्यार्थिक नयों में व्यतिरेक रूप से पर्याय को भी ले लिया है[१६३]। इसलिये इनका कथन करनेवाले सूत्रों की टीका में यह विषय स्पष्ट किया गया है। सूत्रों का कथन संक्षिप्त होता है, अतः उनके विषय को टीका में स्पष्टीकरण के अभिप्राय से दर्शाया जाता है। अन्यथा भावनिक्षेप[१६४] द्रव्यार्थिकनयों का विषय नहीं बन सकता। भावनिक्षेप यद्यपि पर्यायार्थिक नय का विषय है, फिरभीपर्यायों के साथ द्रव्य का अन्वय होने से भावनिक्षेप को द्रव्यार्थिक नय का विषय बनाकर स्वीकार किया गया है।

शंका :—सन्मतितर्क सूत्र में तो भावनिक्षेप द्रव्यार्थिकनयों का विषय नहीं कहा है, इसलिये इस कथन का सन्मतितर्क सूत्र के साथ विरोध कैसे नहीं होता ?

समाधान :—सन्मतितर्क सूत्र में भावनिक्षेप को एक समय की पर्याय रूप क्षणक्षयी पर्याय का विषय स्वीकार किया गया है, इसलिये उस कथन का इस कथन के साथ विरोध नहीं आता, क्योंकि भावनिक्षेप के विषयरूप से अनेक पर्याय सहित द्रव्य को भी स्वीकार कर लिया गया है[१६५]।

इसलिये षटखण्डागम और कषायप्राभृत आगम का मनन करके यदि अकिंचित्कर पुस्तक लिखी जाती तो उससे समाज का और उसके विद्वत् वर्ग का बहुत उपकार होता। व्याख्यान करना अन्य बात है और आगम के अनुसार विषय को स्पष्ट करना अन्य बात है। यह टिप्पणि बुद्धिपूर्वक करनी पड़ती है, क्योंकि हमारे सामने तो अकिंचित्कर पुस्तक है, उसका लेखक नहीं।

अतः यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि आगम के सामने न कोई सामान्य प्रत्यय है और न कोई विशेष प्रत्यय है। सब प्रत्यय समान है, इसीलिये आगम में ऐसा भेद भी देखने को नहीं मिलता।

आगम में प्रत्ययों के आधार से कर्म और नोकर्म की जो व्यवस्था की गयी है, वहाँ यह विचार हो सकताहै कि कौन प्रत्यय कर्म के उदय और उदीरणारूप है, और कौन

---

१६२. आदौ एव बन्धकारणनिर्देशोऽनुष्ठेयः। कार्य-कारणयोश्च पूर्वापरभावात्। पूर्वकारणं वाच्यं पश्चात् कार्यमुच्यते। त. वा. उत्था. सू. ? की, अ. ८ सू.।

१६३. कधमुज्जुसुदे पज्जवट्ठिए दव्वणिक्खेवो त्ति ? ण, तत्थ वट्टमाणसमयाणंतगुण णिणाद-एग-दव्वसंभवादो। ध. पु. १, पृ. १६।

१६४. तत्थ भावमंगलं णाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। ध. पु.१, पृ. २६.।

१६५. अणेण सम्मइसुत्तेण सह कधमिदं वक्खाणंण विरुज्झदे ? इदि ण, तत्थ पज्जा-पज्जायिस्स लक्खण-क्खीणो भावब्भुवगमादो। ध. पु. १, पृ. १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्यय कर्म के उदय और उदीरणा न होकर उनसे बाह्य है। जो बाह्य प्रत्यय हैं उनकी गणना ही नोकर्म प्रत्ययों में की जाती है या की गई है। वे बाह्य प्रत्यय जीव के कार्य के अविनाभावी नहीं हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र और पौरूषेय प्रयत्न अवश्यंभावी माना जाता था और मशीनयुग हो जाने से ये दण्ड चक्रादि नोकर्म हो या न हों तो भी घट का निर्माण हो जाता है। मशीन ही घट बना देती है। उनमें पौरूषेय प्रयत्न अवश्यंभावी है, क्योंकि मशीन उनको निमित्त करके ही यह काम कर सकती है।

इसलिये किन्हीं नोकर्मों का होना अवश्यंभावी नहीं। देखो, जो अनादिकाल से निगोद पर्याय में है उनके पर निमित्त के बिना ही मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा बनी रहती है। उसमें परोपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर उनके मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा होना आवश्क है। वैसे तो ऐसे जीवों के मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी की उदय-उदीरणा अवश्य होती है। जो सम्यक्त्व को प्राप्त कर अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर चुके हैं, वे यदि परिणामों के निमित्त से द्वितीयादि गुणस्थानों को प्राप्त होते हैं, तो उनके थोड़े से समय के लिये मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा न होकर अनन्तानुबन्धी की उदय-उदीरणा गुणधरआचार्य और यतिवृषभ आचार्य के अभिप्राय से बन जाती है। यदि षटखण्डागम के अभिप्राय से देखा जाये तो ऐसा जीव सीधा मिथ्यात्व में आता है। उसके एक आवलिकाल तक मिथ्यात्व की उदय-उदीरणा नहीं होती[१६६] ।यह आगम का नियम है। यदि कोई कहे कि वह चौथे गुणस्थान से गिरता है तो किस बाह्य निमित्त के मिलने से गिरता है ? तो कहना होगा कि यदि उपशम सम्यग्दृष्टि है तो वह काल पूरा हो जाने के कारण गिरता है, इसलिये काल निमित्त हो जाता है तथा वेदक सम्यग्दृष्टि परिणामों के निमित्त से गिरता है।

यदि वह जीव अजानमान गुरू के निमित्त से अन्यथा श्रद्धान कर लेता है तो गुरु या अनायतन आदि उसके निमित्त हो जाते हैं।[१६७] अनायतन तब निमित्त होता है जब कि उसकी प्रशंसा या स्तुति आदि मन से की जाती है। अतत्व का जानकार गुरू और अनायतन आदि अन्यथा श्रद्धान में निमित्त होते हैं और नहीं भी होते। उस को निमित्त कर कार्य हुआ तो अविनाभावी निमित्त होते हैं। और उसको निमित्त कर कार्य नहीं हुआ तो अविनाभावी निमित्त नहीं होते।

कर्म के उदय के साथ यह व्यवस्था नहीं बनती है। वे कार्य के अविनाभावी अवश्य ही होते हैं। मिथ्यात्व के उदय-उदीरणा का कार्य क्या है ? यदि यह पूछा जाय तो कहना होगा कि मुख्यता से अतत्व का श्रद्धान करना-कराना मिथ्यात्व की

---

१६६. अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलि त्ति अणं। ४०८। गो. क. गा. ४७८।

१६७. सम्माइट्ठी जीवोउवइट्ठं पवयणं णियमसा तु सद्दहदि ॥
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ गो. जी. गा. २७ तथा ध. पु. १, पृ. १७३।
आयदणाणायदणं सम्मे मिच्छे य होदि णोकम्मं। गो. क. गा. ७४
अणणोकम्मं मिच्छत्तायदणादी दु होदि सेसाणं ॥ गा. –७५ गो. क.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदय-उदीरणा का कार्य है। अविरति का कार्य क्या है ? तो कहना होगा कि अंतरंग में गुरू की साक्षी के साथ व्रतों को नहीं ग्रहण करना कार्य है ? कषायों का कार्य क्या है, तो कहना होगा कि राग-द्वेषरूप कार्य को उत्पन्न करना उनका कार्य है। इसी प्रकार अन्य के कार्य समझ लेना चाहिए।

ये सब कार्य उस-उस पद को प्राप्त होने के साथ मुख्यता से होते हैं। अकिंचित्कर पुस्तक इन कार्यों को मुख्यता नहीं देता तो अकिंचित्कर पुस्तक को बताना चाहिये कि मिथ्यात्व अविरतादि का कार्य क्या है ? वह इस विषय में मौनरहती है, जैसा कि इस पुस्तक के अवलोकन से जान पड़ता है कि, दूसरे विद्वानों ने जो यह आरोप किया है कि अकिंचित्कर पुस्तक पर यह आरोप सही है कि एक तरह से "अकिंचित्कर पुस्तक द्वारा मिथ्यात्व का ही प्रचार किया जा रहा है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब प्रत्यय समान हैं, उनमें न कोई सामान्य प्रत्यय है और न कोई विशेष प्रत्यय है। यह भेद नोकर्म प्रत्ययों में किया जाता सकता है, मिथ्यात्व आदि कर्म के उदय-उदीरणा से होने वाले प्रत्ययों में नहीं। इस प्रकार का भेद आचार्यों ने भी किया है। यह भेद अकिंचित्कर पुस्तक में ही देखने को मिला है। इस प्रकार विचार करने पर मालूम पड़ता है कि उदय-उदीरणा रूप सब प्रत्यय समान हैं।

३६ अन्वय व्यतिरेक की अपेक्षा विचार

अकिंचित्कर पुस्तक के पृ. ५३ पर लिखा है कि "इस तरह मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय सेअन्वय-व्यतिरेक रखने वाली मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों को भी मिथ्यात्व नहीं बांधता। वहाँ मात्र उसका उदय ही निमित्त होता है। इस तरह यह स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं कि दर्शनमोहनीय का सारा का सारा परिवार ही बन्ध व्यवस्था में अपना कोई भी हाथ नही रखता।"

अकिंचित्कर पु. पृ. ५२ में लिखा है कि "इस तरह तीनों ही प्रकृतियाँ अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप जीव में भाव पैदा करती हैं। इसीलिये इन्हें भावात्मक कहा जाता है।"

अब अकिंचित्कर पुस्तक के इस कथन पर क्रम से विचार किया जाता है। पहले हम अन्वय व्यतिरेक के आधार पर विचार करेंगे। अकिंचित्कर पुस्तक में यह तो स्वीकार कर लिया है कि "मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियों को भी मिथ्यात्व नहीं बांधता, यहाँ उसका उदय ही निमित्त होता है।"

यह विचित्र बात (अकिं पु.) ही देखने को मिली है, कि कषाय का उदय ही बन्ध में निमित्त होता है। तात्विक दृष्टि से देखा जाये तो कोई भी पर वस्तु अन्य के कार्य में निमित्त नहीं होती है। कार्य तो अपने काल में स्वयं होता है, यह आगम की मान्यता है[१६८]। जैसे घट कार्य में कुम्भकार आदि बाह्य पदार्थ निमित्त होते हैं, घट कार्य में तो

१६८. प्र. सा. गा. १६, १०२। पंचास्तिकाय गा. ६२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिट्टी अपने परिणाम स्वभाव के द्वारा स्वयं घट रूप में परिणम जाती है[१९९]। पर जहाँ बाह्य निमित्त को कर्ता आदि मानकर कथन किया जाता है वहाँ निमित्त को कार्य का कर्ता कहा जाता है। यह व्यवस्था असद्भूत व्यवहारनय की है।

पर अकिंचित्कर पुस्तक के उक्त उद्धरण से यह जान पड़ता है कि वह ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कथन को ही सम्यक् मानता है। नैगम, संग्रह और व्यवहारनय के कथन को सम्यक् नहीं मानना चाहता। जबकि वेदना प्रत्यय अनुयोग द्वार में सातों नयों की अपेक्षा कथन किया गया है। वहाँ भी यह नहीं लिखा कि ऋजुसूत्रनय का ही कथन सम्यक् है, उक्त तीन नयों का कथन सम्यक् नहीं है। वहाँ भी अनेक पर्यायों में द्रव्यपने की व्यवस्था कर पर्याय सहित द्रव्य को कार्यकारी माना गया है। कथन किसी अपेक्षा करो तो उस अपेक्षा से वह सम्यक् माना जाता है। अपेक्षा के बिना एकान्त से कथन करना मिथ्या माना जाता है। अपेक्षा से कथन कहो या नय विवक्षा से कथन कहो, दोनों का अर्थ नय अपेक्षा से एक है। अनेकान्त ही उसकी ध्वजा है[२००]। नयविवक्षा से किया गया कथन सम्यक् एकान्त माना गया है यह आगम की व्यवस्था है। इसीलिये मूल ग्रन्थकारों ने मिथ्यात्व को बन्ध के हेतुओं में गिनाया है।

यदि कहो कि तत्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय में दूसरे सूत्र की रचना करते समय "कषायत्वात्" पद देकर मिथ्यात्व को छोड़ दिया गया है और कषाय को मुख्यता क्यों दी गई। यदि मिथ्यात्व बन्ध का हेतु है तो "स मिथ्यात्वात्" यह कहना चाहिये था। "स कषायत्वात्" यह क्यों कहा गया? इससे मालूम पड़ता है कि मिथ्यात्व को यहाँ बन्ध के हेतुओं में जो प्रमुखता दी गई है वह मिथ्यात्व गुणस्थान को ध्यान में रखकर दी गई है। अन्यथा मिथ्यात्व बन्ध का कारण नहीं। कषाय और योग ही बन्ध का कारण है—यह प्रश्न है।

उसका समाधान यह है कि वेदनाप्रत्यय अनुयोग द्वार में जो कथन किया गया है वह सात नयों की अपेक्षा कथन किया है। उसमें तो नैगम, संग्रह और व्यवहारनय से मिथ्यात्व को भी बन्ध के हेतुओं में लिया है, ऋजुसूत्रनय से कषाय और योग को प्रमुखता से बन्ध के हेतुओं में लिया है। शेष तीन नयों से बन्ध के हेतु को अवक्तव्य कहा है।

इससे मालूम पड़ता है कि केवल मिथ्यात्व गुणस्थान को ग्रहण करने के लिए मिथ्यात्व को बन्ध के हेतुओं में नहीं गिनाया है, अपितु नैगमादि तीन नयों से भी मिथ्यात्व को बन्ध के हेतुओं में गिनाया है।

वैसे देखा जाये तो न केवल अन्वय ही (पर्याय रहित द्रव्य ही) बन्ध का कारण है और न केवल पर्याय ही बन्ध का कारण है, किन्तु गुण-पर्यायवाला द्रव्य ही बन्ध का कारण है, क्योंकि कार्य के अनुरूप ही कारण होना चाहिए। कारण एकान्तरूप हो

---

१९९. स. प्र. ३७२ गा.।
२००. त. वा. अ. १, सूत्र ६ की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और कार्य अनेकान्तरूप हो यह नही हो सकता। इसीलिये कारण का लक्षण करते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपादान-उपादेय कारण कार्य की दृष्टि से कहा है।

पुव्वपरिणामजुत्तं कारण भावेण वट्ठदे दव्वं।
उत्तरपरिणाम जुदं तं चि ज कज्जं हवे णि मया ॥

पूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारण है और उत्तर परिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य है।

अकिंचित्कर पुस्तक में परिणामस्वभाव होने से जैसे मिथ्यात्व को भावात्मक मानकर बन्ध में उसकी कारणता को स्वीकार नहीं किया है, वैसे ही कषाय को भी परिणामस्वरूप होने से भावात्मक मानकर बन्ध में उसको कारण नहीं माना जाना चाहिये। दोनों स्थानों पर कथन समान है। इस तरह कषाय बन्ध का हेतु न रहने से अविरत और प्रमाद भी कषाय में गर्भित हो जाने के कारण बन्ध के हेतु नहीं ठहरते। मात्र योग शेष रहता है, वह किसी अपेक्षा से बन्ध का हेतु रह जावे।

इस प्रकार तत्वार्थसूत्र के ८वें अध्याय के १,२ संख्यक सूत्र तो समाप्त हो जाते हैं[२०१]। उनकी रचना गृद्धपिच्छ आचार्य ने व्यर्थ में की है ? यदि अकिंचित्कर पुस्तक कहे कि कषाय को तो बन्ध का हेतु होना चाहिए अन्यथा वर्तमान में स्थिति और अनुभाग का बन्ध कैसे होगा ? तो हम कहते हैं कि मिथ्यात्व भी बन्ध का हेतु होना चाहिए, क्योंकि उसके बिना बन्ध का हेतु द्रव्यार्थिकनय से कौन होगा ? इस प्रकार पाँचों ही बंध के हेतु सिद्ध हो जाते हैं। और मिथ्यात्व बन्ध का हेतु सिद्ध होने पर उससे मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतियों का बन्ध सिद्ध हो जाता है यही तो अन्वय-व्यतिरेक है, क्योंकि मिथ्यात्व के रहने पर उक्त मिथ्यात्व आदि १६ प्रकृतयों का बन्ध होता है और मिथ्यात्व के नहीं रहने पर उनकी बन्धव्युच्छित्ति हो जाती है। वहाँ अन्य प्रकृतियों का जो बन्ध होता है वह केवल मिथ्यात्व से नहीं होता। वहाँ जो अन्य कारण रहते हैं, बन्ध में उनकी मुख्यता हो जाती है। इससे मिथ्यात्व के साथ १६ प्रकृतियों का बन्ध में जो अन्वय-व्यतिरेक आगम में स्वीकार किया है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

४० अनुदय का अर्थ ईषत् उदय नहीं है :-

अकिंचित्कर पुस्तक में यह सम्भावना व्यक्त की गयी है कि "ईषत् उदय को ही अनुदय कहा गया हो" यह अकिंचित्कर पुस्तक का हेडिंग है, किन्तु यदि ऐसा मान

२०१. ते एते पंच बन्ध हेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा-मिथ्यादृष्टेः पंचापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। स. सि., अ. ८, सू.। पृ. २९२।
मिथ्यादर्शनदि हेत्वभाव ----अ. १०, सू. २, पृ. ३६८।
मिच्छत्तपच्चओ खलु बंधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसंते आसाणो तेणा परं होइ भजियव्वो ॥१०१॥
क. पा. सू. पृ. १३६ पं. सुमेरचंद्र दिवाकर सम्पादक-अनुवादक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिया जाये तो उदय प्रकरण में अनुदय का अर्थ ईषत् उदय करना पड़ेगा। अकिंचित्कर पुस्तक तथा अनन्तानुबन्धी चार इसके समर्थन में "अनुदराकन्या " शब्द को प्रस्तुत करता है।

यदि उसे दृष्टान्त बनाकर "अनुदय" का भी "ईषद उदय" अर्थ किया जाये तो मिथ्यात्व गुणस्थान में १६ कषायों में से चार का उदय एक समय में होता है, शेष का अनुदय रहता है।तो इन सब स्थानों पर "अनुदय का अर्थ ईषत् उदय" करने का प्रसंग प्राप्त होता है। यह स्पष्ट है–अकिंचित्कर पुस्तक में इस पर ध्यान नहीं दिया गया जान पड़ता है।

"अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होने पर उसका कम से कम आवलिकाल तक उदय नहीं हो सकता" यह मानकर भी इस कथन में गुणस्थान नही खोला गया तथा १०० संख्यक का टिप्पण यहाँ नहीं होना चाहिए था, क्योंकि इस प्रकरण की पुष्टि में वह उपयोगी नहीं है। संयोजना संक्रमपूर्वक होती है, इसलिये संक्रम सम्बन्धी टिप्पण देना था।

आगे इसी पृष्ठ २७ में लिखा है कि "पुनः अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के पश्चात जो जीव प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होता है, तब उसके पहले समय से ही अनन्तानुबंधी का उदय और बन्ध दोनों ही एक साथ शुरू हो जाते हैं। लेकिन प्रथम समय में उदयगत निषेकों में अनन्तानुबंधी का अनुभाग सत्कर्म है वह सबसे जघन्य शेष है, उस अनुभाग से सूक्ष्म निगोदिया जीव का जघन्य अनुभाग सत्कर्म अनन्तगुणा कहा गया है।. इस अनुभाग की जघन्यता को दृष्टिगत करके ही अनुदय का कथन आचार्यों के द्वारा किया जाना संभव है।"

अकिंचित्कर पुस्तक के इस कथन पर विचार करने पर तीन शंकाएँ की जा सकती हैं –

(१) क्या विसंयोजना क़रनेवाला जीव जब मिथ्यात्व गुणस्थान में सीधा गिरकर आता है तब उसके प्रथम समय से ही अनन्तानुबंधी का उदय और बन्ध दोनों एकसाथ होते हैं ? या एक आवलि काल तक बन्ध ही होता है, उदय नहीं होता ?

(२) उसके मिथ्यात्व में आने पर एक आवलि काल तक अनुदय किसका रहता है ?

(३) इन दोनों कथनों में सिद्धान्त-विरोध क्यों नहीं दिखाई देता, जब कि सिद्धान्त विरोध स्पष्ट रूप में समझ में आता है ?

अब इन तीनों प्रश्नों का समाधान किया जाता है।

यदि विसंयोजना करनेवाला जीव जब गिरकर सीधा मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, तो उसके संक्रमण पूर्वक बन्ध चालू हो जाता है, पर आवलि काल तक उदय नहीं होता। उदय नहीं होने के कारण हैं कि उस मिथ्यादृष्टि के बन्ध होने पर आबाधा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काल में एक आवलि तक उसका अपकर्षण होकर उदयावलि में निक्षिप्त होने की सामर्थ्य नहीं है। तथा विसंयोजनापूर्वक जो संक्रम हुआ है उसका निक्षेप भी आबाधा से ऊपर के निषेकों में ही होता है। इसीलिये एक आवलि काल तक आबाधा में अनन्तानुबंधी के निषेक नहीं होते। आबाधा में उदयावलि भी आ गयी है। इसीलिये विसंयोजना करने वाले जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान में आने पर संक्रम भी होता है और बन्ध भी होता है पर एक आवलि काल तक उदय नहीं होता[२०२] —यह आगम का नियम है।

ऐसे जीव के मिथ्यात्व में आने पर एक आवलि काल तक अनन्तानुबंधी का उदय नहीं रहता है। उसके (अनुदय को) ईषत उदय कहना यह सिद्धान्त के विरुद्ध है। उसमें जो दृष्टान्त "अनुदरा कन्या" का दिया गया है उसे देकर ईषत उदयकी पुष्टि करना भी सिद्धान्त के विरूद्ध है।

(३) इन दो शंकाओं के समाधान हो जाने पर तीसरी शंका स्वयं नामशेष हो जाती है।

यह ठीक है कि मिथ्यात्व की उदीरणा करने वाला जीव अनन्तानुबंधी का कदाचित् (मिथ्यात्व गुणस्थान में) उदीरक है, कदाचित् सासादन गुणस्थान में एक समय से लेकर एक आवलि काल के भीतर तक आया है तो अनुदीरक है।

उदीरणा का जो लक्षण टिप्पण में दिया गया है वह ठीक है। पर जो अर्थ किया गया है कि "किन्हीं विशिष्ट क्रियाओं या अनुष्ठानों के द्वारा कर्म को अपने उदय से पूर्व हीपकाकर उदयगत करना अर्थात् अपने समय से पूर्व ही उदय में ले आना उदीरणा है।" यह लक्षण एक अपेक्षा से ठीक नहीं, क्योंकि उदय के साथ उदीरणा सदा काल होती रहती है[२०३]। इसे सरल शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब उदयावलि के निषेक शेष रह जाते हैं तथा और सब निषेक शेष नहीं रहते तब उदीरणा नहीं होती, एक आवलि काल तक उदय ही होता है —यह नियम, जिनका उदयपूर्वक क्षय होता है उनके लिये समझना चाहिए। उदय वाले कर्मों के साथ मिलकर जिनका क्षय होता है उनमें यह नियम लागू नहीं होता। यों यदि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करनेवाला जीवमिथ्यात्व में आकर अनन्तानुबंधी की संयोजना करने लगता है तो एक आवलि काल तक उदय और उदीरणा दोनों नहीं होते, क्योंकि ऐसे जीव के उदीरणा उदय की अविनाभाविनी है।

---

२०२. अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्तेण आवलित्ति अणं ॥४७८॥ गो. क. का.।

२०३. उदयस्सुदीरणस्सय सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो। मोत्तूण तिण्णिठाणं पमत्त जोगी अजोगी य॥ २७८॥ गो. क. का.।

A ध. पु. १५ पृ. २८६ पं. ४-५, ध. पु. १५ पृ. ८१-६७ आदि।

B ज. ध. पु. १०, पृ. ५४, ध. पु. १५, पृ. ७५ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४१ एक बात और :-

इकतालिस प्रकृतियाँ (दो वेदनीय, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय, ४ आयु, ५ निद्रा, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, तीनों वेद, संज्वलन लोभ) के ही उदय व उदीरणा के स्वामित्व में भेद हैं। इन ४१ के सिवाय शेष बची १०७ प्रकृतियों के उदय के स्वामियों से उदीरणा के स्वामियों में अंश भर भी भेद नहीं है[२०४]।

अतः इस सर्वागम सम्मत बात से यह काँच के माफिक स्पष्ट है कि, अनन्तानुबंधी का जब-जब उदय होता है तब तब नियम से उदीरणा भी उसकी होती है —यह निष्कर्ष ध्रुव सत्य है। क्योंकि अनन्तानुबंधी, ४१ अपवाद प्रकृतियों में परिगणित नहीं है।

परिशेष न्याय से प्रथम आवली काल तक उदय व उदीरणा दोनों नहीं बनते हैं।

आवली काल तक ऐसे मिथ्यात्वी के अनन्तानुबंधी का बन्ध मिथ्यात्व-निमित्तक (मिथ्यात्व-हेतुक) ही होता है। यहाँ अनुदय कहने में कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि चौथे आदि गुणस्थान से गिरकर सीधे मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबन्धी का बन्ध होने लगता है, इसलिये आबाधा में अनन्तानुबंधी के निषेकों की सत्ता नहीं पायी जाती, और जो अप्रत्याख्यानावरणादि का अनन्तानुबन्धी के रूप में संक्रम हुआ है उसके निषेक भी आबाधा में निक्षिप्त नहीं होते, आबाधा के ऊपर (आगे) ही निषेकों में निक्षिप्त होते हैं, इसलिये आबाधा से लेकर उदयावलि तक अनन्तानुबन्धी के निषेकों की सत्ता न होने से अनन्तानुबन्धी का अनुदय रहता है। इसलिये २६ पृष्ठ में यह कहना कि "लेकिन जैसे ही परिणामों के माहात्म्य से तत्काल ही अनन्तानुबंधी चतुष्क रूप से परिणत हो जाता है तथा उदय में भी आ जाता है" यह आगम विरुद्ध है।

आगे पृ. ३० पर प्रारंभ से १० पंक्ति ऐसी हैं जो परस्पर विरूद्ध हैं। इसे उन्हीं पंक्तियों में (अकिंचित्कर पुस्तक में भी) स्वयं स्वीकार कर लिया गया है। इस कथन से ऐसा लगता है कि कषायप्रामृत और षट्खण्डागम के कथन को एक समझकर यहाँ लिखा गया है। इसकी पुष्टि में जो १०५ संख्यक टिप्पण दिया गया है, उसकी यहाँ क्यों आवश्यकता समझी गयी ? यह हमारी समझ में नही आया।

अकिं. पु. पृ. ३० में "अनन्तानुबंधी की रिक्तता का हेतु" इस हेडिंग के बाद "अनन्तानुबंधी सत्ता और उदय में तो रहती है लेकिन उदयावलि में क्यों नहीं है इसे समझने के पहले हमें विसंयोजना की संपूर्ण प्रक्रिया को ध्यान में रखना होगा।"

४२ संयोजना के बाद की स्थिति :-

आगे चलकर अकिं पु. के इसी पृष्ठ में लिखा है कि —"यहाँ पर संक्रमण की होने वाली प्रक्रिया मात्र सत्तागत द्रव्य में ही होती है, न कि उदयावलि या उदय में, अतः

---

२०४. पं. सं. (ज्ञानपीठ) पृ. ५१६-५२२ प्रकरण ५। ७३-७५, गोम्मटसार कर्म. २७८-८१, कर्मस्तव ३६-४३, संस्कृत पंचसंग्रह ३। ५६ से ६०, सर्वार्थसिद्धि (ज्ञानपीठ) पृ. ३४६-४७, राज वा. भा. २ पृ. ७६३-६४ तथा धवलाजी पु. १५ पृ. ५४ से ६१ आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयावलि के द्रव्य को एक आवलि काल तक उदय में रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायों रूप स्तिबुक संक्रमण के द्वारा उदय से एक समय पूर्व ही क्रमशः परिणत कराता हुआ उदयावलि को खाली कर देता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे एक आवलि तक उदयावलि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होने पर भी रिक्त नहीं हुई, उसी प्रकार संयोजना के समय भी एक आवलि तक अनन्तानुबंधी उदयावलि को पार कर उदय में नही आ पाती। कारण, उदयावलि में स्थित द्रव्य में मात्र स्तिबुक संक्रमण के अलावा सभी दसों कारणों का अभाव पाया जाता है।" पृ. ३१।

उसी में आगे पृ. ३२-३३ में लिखा है कि "पहली बात तो यह है कि अनन्तानुबंधी के अभाव में यह नया बन्ध किसके द्वारा होगा ? यदि कहें कि मिथ्यात्व के द्वारा; तो भी गलत ही है, क्योंकि उदय से जीव में अतत्व श्रद्धान रूप भाव का ही अनुभव होगा, वह बन्ध नहीं कराता। साथ ही अनन्तानुबंधी के नये बन्ध के लिये अनन्तानुबंधी का उदय होना आवश्यक है। जबकि अभी अनन्तानुबंधी का उदय नहीं है, तब बन्ध कैसे? इसलिये संयोजना होना अलग बात है और अनन्तानुबंधी का नया बन्ध होना अलग बात है। इन दोनों को एक मानना हमारी सिद्धान्त अज्ञता ही होगी।"

आगे अकिंचित्कर पुस्तक के पृ. ३४ में लिखा है– "जबकि विसंयोजना में अनन्तानुबंधी की विसंयोजना होने के बाद भी वह अपने अध्वान-बन्ध उदय काल में पुनः संयोजित हो जाती है"

आगम तो कहता है कि वह गिरकर सासादन गुणस्थान में आता है तो बन्ध उदय एक साथ बन सकता है, और यदि वह गिरकर सीधा मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, तो प्रथम समय में बन्ध तो बन जायगा परन्तु उदय नहीं बनेगा।

आगे पृ. ३७ में "अनन्तानुबंधी मिथ्यात्व की जननी" इस हेडिंग के अन्तर्गत जो लिखा गया है, उसके विषय में विचार अलग से किया गया है, अतः उन्हें भी विचार न कर छोड़ते हैं।

अब इस पर गहराई से विचार किया जाता है। यहाँ ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं–

(१) किसी भी प्रकृति का (खासकर अनन्तानुबंधी का) द्रव्य सत्ता और उदय में तो हो पर उदयावलि में न हो, क्या यह सम्भव है ?

(२) विसंयोजना के बाद संयोजना होने में कम से कम कितना काल लगता है?

(३) उसी प्रकार संयोजना के समय भी एक आवलि काल तक अनन्तानुबंधी उदयावलि को पारकर उदय में क्यों नहीं आ पाती ?

ये तीन शंकायें है। इन पर क्रम से विचार किया जाता है।

पहली शंका तो यह है कि अनन्तानुबंधी की सत्ता और उदय तो रहे पर उदयावलि में न हो–क्या यह सम्भव है ? इस पर विचार करने से मालूम पड़ता है कि, यदि उदयावलि में द्रव्य न हो तो उदय किसका होगा ? एक समय कम उदयावलि में द्रव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के न होने पर उदयावलि के अन्तिम निषेक का उदय स्वोदय प्रकृति वाले क्षपक के तो सम्भव है, क्योंकि उसके क्षपणा के अन्त में उदयरूप एक निषेक तो बन जाता है। परन्तु अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने के बाद इस मिथ्यादृष्टि के संयोजना होने पर किसी भी प्रकार से उदय संभव नहीं है क्योंकि संयोजना करने के बाद अनन्तानुबंधी का द्रव्य उदयावलि और उदय में निक्षिप्त न होकर आबाधा काल के ऊपर प्रथम निषेक में निक्षिप्त होता है—ऐसा आगम का नियम है। कषायप्राभृत के अनुसार विचार करने पर तो यह व्यवस्था एक अपेक्षा से बन जाती है। उसमें उदयावलि में रिक्तता का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि संयोजना के समय ही अनन्तानुबन्धी का पूरा द्रव्य उदय समय से निक्षिप्त हो जाता है, इसलिये जिस समय सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है उसी समय में अनन्तानुबन्धी का बन्ध, सत्ता और उदय बन जाता है।

दूसरे तथा तीसरेप्रश्न का उत्तर —विसंयोजना के बाद संयोजना होने में कम से कम अन्तर्मुहुर्त काल लगता है, क्योंकि उपशम समयदृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि का काम कम से कम जघन्य अन्तमुहुर्त काल है। इसलिये संयोजना होने में अन्तर्मुहुर्त काल लगता है। अतः मिथ्यादृष्टि के संयोजना के प्रथम समय में उदयावलि रिक्त ही रहती है। तथा अनन्तानुबन्धी का द्रव्य आबाधा के ऊपर की लड़ी में प्रथम समय से निक्षिप्त हुआ है। इसलिये उसका द्रव्य उदयावलि को पार कर उदय में आना सम्भव ही नहीं है। दूसरे, उदयावलि का अन्तिम निषेक ही उदय में आता है और उदयावलि के ऊपर द्वितीयावलि का अन्तिम निषेक उदयावलि के प्रथम निषेक का स्थान ले लेता है, इसलिये इस समय उदयावलि पूरी बनी रहती है। अतः उदयावलि को पार कर उदय में आने का सवाल ही खड़ा नहीं होता[२०५]।

४३ अध्यात्म में उल्लेख मात्र

वैसे तो अकेले आत्मा को आलम्बन कर जो कथन किया जाये वह तत्वतः अध्यात्म कहलाता है। यह उसकी व्युत्पत्ति है—आत्मनीति अध्यात्मम्। तथा जिनागम में सब जगहसब विषयों का समावेश किया जाता है, और प्रसंग प्राप्त उसको बतलाया भी जाता है। यहाँ भी वह किया गया है। इसलिये यह समझना चाहिए कि अन्य को निमित्तपने की अपेक्षा कारण कहना असद्भूत व्यवहार नय का विषय है। वे कारण पाँच हैं :—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। यह ८वें अध्याय का पहला सूत्र त्रिकाल की (द्रव्यार्थिकनय की) मुख्यता से कथन करने वाला सूत्र है। और दूसरे सूत्र में वर्तमान की (पर्यायार्थिकनय की) मुख्यता की गई है। उसमें योग और कषाय को मुख्यता दी गई है। मिथ्यात्व को छोड़ दिया गया है, क्योंकि मिथ्यात्व अतीत काल की या बिना काल की अपेक्षा कथन करने वाला सूत्र है।

---

२०५. खु. बं. का प्रथम सूत्र १, पृ. १६४, १६५, १६६, १६७, १६८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो समयसार में आस्त्रव अधिकार के अन्तर्गत आस्त्रव के कारणों का कथन करते हुए मिथ्यात्व आदि चार भेद किये हैं वे कषाय में प्रमाद को अन्तर्भूत करके ही कहे गये है। उनके दो भेद हैं —द्रव्य प्रत्यय और भाव प्रत्यय। ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप जो बन्ध होता है वे द्रव्य प्रत्यय हैं। और संसारी जीव के जो मिथ्यात्व, अविरति आदि भाव हैं वे भाव प्रत्यय हैं। संसार में जीव के भावप्रत्यय न हो तो द्रव्य प्रत्यय जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप आस्त्रव में कारण नहीं होते। जैसे सिद्ध जीवों के राग, द्वेष और मोह नहीं है, इसलिये उनके द्रव्य प्रत्यय नहीं है, क्योंकि उसके निमित्तभूत भाव प्रत्यय का अभाव है। वे (भाव प्रत्यय) न हो तो द्रव्य प्रत्ययों का अभाव नियम से हो जाता है। इन दोनों का एक काल है। द्रव्य प्रत्ययों का कारण तो पुद्गल द्रव्य का स्पर्श गुण के भेद रूप स्निग्ध और रूक्ष गुण हैं। इस आधार पर बन्ध के होने में "द्वियाधिक गुण रूप" सिद्धांत लागू हो जाता है। भाव प्रत्यय द्रव्य प्रत्यय पूर्वक होते हैं, इसलिये द्रव्य प्रत्ययों को भाव प्रत्यय के होने में कारण कहा है। यह संसार की परिपाटी की प्रक्रियाहै।भाव प्रत्यय प्रति समय द्रव्य प्रत्ययों के आस्त्रव पूर्वक बन्ध के कारण हो जाते हैं, और द्रव्य प्रत्ययों की उदय और उदीरणा रूप भाव प्रत्यय उन द्रव्य प्रत्ययों के आस्त्रव के कारण हो जाते हैं। इसी बात को समयप्रामृत में इन शब्दों में कहा है —ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्त्रव पूर्वक बन्ध का वे द्रव्य प्रत्यय कारण होते हैं, और उन द्रव्य प्रत्ययों का आस्त्रव पूर्वक बन्ध का वे संसारी जीव के राग, द्वेष और मोह रूप भाव कारण होते हैं[२०६]। इन गाथाओं की टीका में जो कहा गया है उसका आशय है राग, द्वेष और मोह ही आस्त्रव हैं, जो कि अपने में और पर में एकत्व रूप और राग, द्वेष रूप अपने परिणाम के निमित्त से हुए हैं, उनमें जड़पना न होने से चिदाभास है, तथा ये पुद्गल के परिणाम रूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप हैं। वे ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों के आस्त्रव के निमित्त हैं। उनके आस्त्रव रूप निमित्त के निमित्त अज्ञान मय आत्मा के परिणाम राग द्वेष और मोह (मिथ्यात्व) हैं। इस कारण नवीन मिथ्यात्व आदिक कर्म के आस्त्रव के निमित्तपना के निमित्त होने से राग, द्वेष और मोह (मिथ्यात्व) ही आस्त्रव हैं।

वीतराग सम्यग्दृष्टि कहाँ से हो जाताहै, यह स्वतन्त्र विषय है। यदि सम्भव हुआ तो उसका आगे विचार करेंगे।

यहाँ तो बन्ध के कारणों का विचार करना है। अकिंचित्कर पुस्तक से ऐसा निश्चित होता हैकि, तत्वार्थ सूत्र के ८वें अध्याय में जो सूत्र आये हैं प्रथम और द्वितीय। उनमें प्रथम सूत्र द्रव्य प्रत्ययों का कथन करने वाला सूत्र है और दूसरा सूत्र भाव प्रत्ययों का कथन करने वाला सूत्र है। अकिंचित्कर पृ. ५५-५८ के ये शब्द है—"उपर्युक्त आशय की अभिव्यक्ति ही सम्भवतः आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छ) जी ने अपने दोनों सूत्रों के माध्यम से की है।" अर्थात् उनका पहला सूत्र "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाबन्ध हेतवः" द्रव्य प्रत्ययों के कथन को करने वाला

२०६. स. प्रा. गा. ८०, १६४-१६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है तथा दूसरा सूत्र "सकषायत्वात्‌जीवः कर्मणोयोगान् पुद्गलानदत्ते सः बन्धः" यह भव प्रत्ययों का प्ररूपक है।

जबकि आगम से पता चलता है कि पहला सूत्र द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से कहा गया है और दूसरा सूत्र पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कहा गया है। यदि केवल पर्यायार्थिकनय की मुख्यता से कथन किया जाये, तो द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से कथन करने का अवसर ही नहीं मिलता। जबकि कार्य-कारण भाव की सिद्धि दोनों नयों से करनी चाहिये। और जो कार्य होता है वह भी दोनो नयों का विषय है, क्योंकि सामान्य को छोड़कर विशेष से कथन करना नहीं बनता। विशेष को छोड़कर सामान्य से कथन करना भी नहीं बनता। इसलिये द्रव्यार्थिक तीनों नयों की अपेक्षा कथन करना, सामान्य की मुख्यता से कथन करना है और पर्यायार्थिक नयों की अपेक्षा कथन करना, विशेष (पर्याय की) की मुख्यता से कथन करना माना गया है[२०७]। प्रमाण ज्ञान तो नय ज्ञान के कथन में गौण रहता है। उसका यह विषय भी नहीं। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। यह तो नय ज्ञान का विषय है। उसमें भी पर पक्ष को छोड़ा नहीं जाता, पर पक्ष की उपेक्षा (गौरवता) रहती है[२०८]। आगम की यह व्यवस्था है।

इसी बात को ध्यान में रखकर सर्वार्थसिद्धि के ८वें अध्याय के सूत्र २ की टीका में यह कथन भी उपलब्ध होता है कि इसलिये मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेशवश गीले किये गये आत्मा के सब अवस्थाओं में योग विशेष से उन सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभाव को प्राप्त होने योग्य पुद्गलों का उपश्लेष होना बन्ध है यह कहा गया है। जिस प्रकार पात्र विशेष में प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फूल और फलों का मदिरारूप से परिणमन होता है उसी प्रकार आत्मा में स्थित हुए पुद्गलों का भी योग और कषाय के निमित्त से कर्मरूप से परिणमन जानना चाहिए।

यद्यपि कथन तो क्रम से होता है, पर निमित्त-नैमित्तिक भाव एक समय में बन जाता है। सातों नयों का विषय तो एक समय में है। उसका नय दृष्टि से कथन क्रम से होता है यह आगम की व्यवस्था है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। इस प्रकार यह दो सूत्रों का पृथक-पृथक क्यों निर्देश किया इसका आशय समझना चाहिए।

४४ सरागसम्यग्दर्शन किसके होता है ?

इस विषय में विशेष तो नही लिखेंगे। मात्र अनगार धर्मामृत[२०९] का दो तीन उदाहरण देकर इस विषय को पाठकों को समक्ष रख देना चाहते है यथा—उक्त श्लोक

---

२०७. सकलादेश प्रमाणाधीनो। विकलादेशोनयाधीनः। स. सि. प्रथम अ. सू. ६ की टीका।

२०८. वे. प्र. अ. पृ. २७६—पाणादिवादो णाम हिंसाविसयजीववावारो। सो य पज्जाओ। तदो ण सो कारणं, पज्जायस्स एयंतस्स कारणत्तविरोहादोत्ति ? ण, पज्जायस्स पहाणीभूदस्स आयड्डियपखक्खस्स कारणत्तवलंमादो। घ. पु. १२।

२०९. अनगार ध. श्लोक ५३— तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोमान्ताः स्वां दशं विदुः। प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्व्येष्टानुमितैः पुनः॥ असंयतसम्यदृष्टयादिसूक्ष्मसांपरायपर्यन्ताः सप्त। कां विदुः ? दशं सम्यक्त्वम् किंविशिष्टाम ? स्वमात्मीयाम्। कैः ? तैः स्वगत सम्यकत्वजन्यैः प्रशमादिभिश्चतुर्भिलिन्डैः। किंविशिष्टैः ? स्वसंविदितैः स्वेनात्मना सम्यग्निणीतिः। प्रमत्तान्तान्यगां पुनर्दशं विदुः। सूक्ष्मलोमान्ता यथात्वं व्यवहारिणः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का आशय यह है कि अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय पर्यंत प्रशमादि चार कारणों से अपने में उत्पन्न हुए स्वसंवेदन द्वारा सम्यग्दर्शन को जाने तथा प्रमत्तगुणस्थान पर्यंत अन्य में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन को उसमें रहने वाले वचनों और काय चेष्टाओं से अनुमान करके जाने। इससे मालूम पड़ता है कि स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन को स्वयं स्वसंवेदन द्वारा जान लेता है, और अन्य में उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन को उसमें रहने वाले प्रशम, संवेगादि के द्वारा जान लेता है। चौथे गुणस्थान से जो असंख्यातगुणी निर्जरा चालू हो जाती है[२१०] वह स्वसंवेदन सम्यक्त्व का चिन्ह है। वह असंख्यातगुणी निर्जरा अयोगियों तक जाती है। यदि कहा जाता है कि प्रशमादि बाह्य चिन्ह तो मिथ्यादृष्टि के भी पाये जाते हैं। इसलिये श्लोक में कहा है कि सम्यक्‌प्रकार से निर्णय किये हुए अनुमान द्वारा जाने गये होने चाहिए, क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य बुद्धि रूप सम्यग्दर्शनजन्य वचन और चेष्टा, अन्तरंग स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन का ज्ञापक निमित्त है ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

शंका :—सराग सम्यग्दर्शन किसके होता है ?

समाधान :—जिसके औपशमिक, वेदक, और क्षायिक सम्यग्दर्शन विद्यमान है।

शंका :—ऐसे जीव के क्यों होता है ?

समाधान :—क्योंकि निश्चय और व्यवहार का जोड़ा है। १०वें गुणस्थान तक यह नियम चलता है।

शंका :—आगे क्यों नहीं चलता ?

समाधान :—आगे कषाय का अभाव होने से १०वें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक कषाय होने से व्रत का व्यवहार माना गया है, आगे कषाय का अभाव होने से व्रत रूप व्यवहार का भी अभाव हो जाता है। छठवें गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक व्यवहार चलता है। आगे निमित्त का सद्‌भाव होने से अबुद्धिपूर्वक व्यवहार स्वीकार कर लिया जाता है। उपयोगपूर्वक (बुद्धिपूर्वक) व्यवहार और अबुद्धिपूर्वक होने वाले व्यवहार में अन्तर है।

शंका :—यह कैसे मालूम पड़े कि चौथे गुणस्थान में स्वसंवेदन सम्यक्त्व हो जाता है ?

समाधान :—प्रवचनसार की २३७ वीं गाथा और उसकी तत्वदीपिका नामक टीका से यह मालूम पड़ता है कि उसमें श्रद्धान का अर्थ प्रतीतिरूप किया है। यह चोथे गुणस्थान का कथन करने वाली गाथा है। उसमें श्रद्धान शून्य आगमज्ञान का भी निषेध किया गया है। यहाँ आत्मानुभव ही स्वानुभव है[२११]। इसी बात को अनगारधर्मामृतमें दर्शाया है। यहाँ पर शुद्धात्म में शुद्ध-बुद्ध तथा एक स्वभाववाला स्वयं

---

२१०. सम्यग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोह क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। स. सि. अ. ९, सू. ४५।

२११. प्र. सा. गा. २३७, त. व. टी. आत्मानं श्रद्धानोऽप्यनुभवन्नपि। ....आत्मतत्त्व प्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदिता तत्त्वानुभूति रूपं ज्ञानं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का आत्मा ध्येय रहता है इसलिये शुद्ध आत्मारूप ध्येय होने में शुद्ध आत्मा का अवलंबन होने से और आत्मा का साधक होने से शुद्धोपयोग बन जाता है। इसी भाव को संवर कहा जाता है। यह संसार के कारणभूत मिथ्यात्व रागादिरूप अशुद्धपर्याय के समान अशुद्ध नहीं है और फलरूप केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्याय के समान पूर्ण शुद्ध नहीं होता है। किन्तु उन शुद्ध और अशुद्ध पर्यायों में विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रय स्वरूप एकदेश प्रकाश रूप तथा एकदेश निरावरण रूप तीसरी अवस्था रूप मोक्ष का कारण कहा जाता है[२१२]। इसलिये यहाँ यह समझना चाहिए कि जिसके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है उसी के व्यवहार (सराग सम्यग्दर्शन) होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही दूसरा नाम सरागसम्यग्दर्शन है। एक के बिना दूसरा नहीं होता अन्यथा उसे मिथ्या माना जाता है।

मान्य अन्य विद्वानों के अभिप्राय :-

इस विषय में अन्य विद्वानों के अभिप्राय को देने के लिए मैं अपने को रोक नहीं सकता, क्योंकि यह हमारा कहना है कि अन्य विद्वानों ने भी इसी बात का समर्थन किया है, यह देखना यहाँ पर आवश्यक प्रतीत होता है।

४५ स्व. मान्य पं. हीरालाल सि. शा., सादूमल :-

वे अपनी पुस्तक के विशेषार्थ में लिखते हैं कि उस मिथ्यादृष्टि के २२ प्रकृतियों का ही उदयावलि में प्रवेश होता है। उसके अनन्तानुबंधी की उदीरणा तो अति दूर रहे और उसका उदय भी दूर रहे, अरे ! उस समय तो इस अनन्तानुबंधी चतुष्क के द्रव्य का एक परमाणु भी उदयावलि में प्रविष्ट हो नहीं सकता। फिर उस समय उसकी उदय-उदीरणा कैसे बनेगी ? उदीयमान प्रथम निषेक से लेकर आवलि (उदयावलि) पर्यन्त के निषेकों की लड़ी में अनन्तानुबन्धी चतुष्क का एक परमाणु भी नहीं है।

४६ मान्य पं. जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री भिण्डर :-

करणदस पुस्तक के अन्त में वे लिखते हैं कि, आचार्य वीरसेन ने मिथ्यात्व को लेश्या लिखा है और लेश्या उसे कहते हैं जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, अतः मिथ्यात्व भी लेश्या के समान निर्विवादरूप से कर्म लेप का प्रमुख कारण है[२१३]।

वे यह भी लिखते हैंकि, मिथ्यात्व के अन्तिम समयवर्ती जीवों तक के नियम से मिथ्यात्व प्रत्ययक अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व का और ज्ञानावरणादि कर्मों

---

२१२. अन. ध. प्रथम अ. ११० श्लो. की. टी. –अत्र च शुद्धनिश्चये शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिप्रतीति शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसं वरा इत्यु च्यते । एष च -----तृ तीयमवस्थान्तरं मण्यते ।

२१३. धवला पु. ८ पृ. ३५६ । लिंपदिअप्पी कीरदि एदाए णिययपुण्णपावं च । जीवोत्ति होइ लेस्सागुणजाणय क्खादो ध. पु. १. पृ. १५० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बंध जानना चाहिए। सातिशय मिथ्यादृष्टि के उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते समय करणलब्धि में अत्यन्त विशुद्ध परिणामों के कारण ४६ प्रकृतियों का संवर हो जाता है, परन्तु मिथ्यात्व का संवर नहीं होता। इसका कारण क्या है ? ढूंढने पर ज्ञात होता है कि मिथ्यात्व का उदय ही इसका कारण है[२१४]।

मिथ्यात्व गुणस्थान में ऊपर से गिरते समय एक आवलि काल तक अनन्तानुबंधी की संयोजना करने के काल में जघन्य युक्त ७ संख्यात प्रमाण असंख्यातसमयों तक अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध होता रहता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी का भी बन्ध होता रहता है, पर उसका उदय नहीं होता। यहाँ ईषत अनुदय का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि बन्धावलि काल है। जो ऐसा नहीं मानते वे बन्धतत्व सम्बन्धी भूल करते हैं।

कषाय और योग हेतुक बन्ध उस आवली काल में होता है। जबकि सासादन गुणस्थान में ६ आवलि काल तक अनन्तानुबंधी उदित रहती है, वहाँ एक समय के लिए भी वह मिथ्यात्व को नहीं बांध सकती।

सारतः जहाँ मिथ्यात्व रूप आधार है वहाँ अनन्तानुबन्धी का बन्ध निश्चित होता है, पर जहाँ सासादन में अनन्तानुबन्धी है वहाँ पर मिथ्यात्व के बन्ध का नियम नहीं बनाया जा सकता। यदि इतनी सब कथनी ध्यान में नहीं रखकर पुनरपि तर्क किया जाये कि अनन्तानुबंधी विसंयोजित करने वाले के मिथ्यात्व में आने पर अनन्तानुबंधी का उदय, यानि उसका अनुभाग उदय, सबसे जघन्य होता है अतएव उसे अनुदय तुल्य होने से 'अनुदय' कहा जाता है तो उसका उत्तर यह है कि –

१. प्रथम तो आगम में उक्त प्रथम आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के अनन्तानुबंधी के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश का पूर्णतः अनुदय ही कहा है। इसलिये उक्त तर्क ठीक नहीं।

२. दूसरा यह भी निवेदन है कि जयधवल पु. ५ पृ. १८२ पर जो अनन्तानुबंधी के जघन्य अनुभाग के स्वामित्व का कथन किया है वह मात्र अनुभाग सत्व के स्वामियों का कथन है अनुभाग उदय के स्वामियों का कथन नही है। मूलागम ही देखिये :–

यथा :–अणंताणुबंधीणं जहण्णयमणुभागसंतकम्मं कस्स ? सुगमं। पढमसमयसंजुतस्स। सुहमेइंदिएसु जहण्णसामित्तं किण्ण दिण्णं ? ण, पढमसमयसमयसंजुतस्स पचग्गाणुबंधं पेक्खिदूण सुहुमणिगोद जहण्णाणुभागसंत - कम्मस्स अणंतगुणत्तादो। (ज. ध. पु. ५ १६६–१६७)

अर्थ :–"अनन्तानुबंधी चार का जघन्य अनुभाग सत्कर्म किसके होता है ? यह सूत्र सुगम है। प्रथम समयवर्ती संयुक्त के होता है।

२१४. मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतेकान्तविनय संशयाज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मोदयजनितायेषांते मिथ्यादृष्टयः। ध. पु. १, सू. १, पृ. १६२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शंका :—सूक्ष्म एकेन्द्रियों में जघन्य अनुभाग का स्वामिपना क्यों नहीं कहा ?

समाधान :—नहीं, क्योंकि प्रथम समय में अनन्तानुबन्धी से संयुक्त हुए जीव के जो नवीन अनुभाग बन्ध होता है, उसे देखते हुए सूक्ष्म निगोद जीव का जघन्य अनुभाग सत्व अनंतगुणा है ।"

नोट :—अत्यन्त स्पष्ट है कि यहाँ उदय का प्रकरण नहीं है, मात्र सत्व का प्रकरण है । फिर उसे उदय में घटाना कहाँ का न्याय है ?

(यहाँ सत्व का प्रकरण है) ज. ध. पु. ५ पृ. १६३ व १६७–१६८ के विशेषार्थ ।

३. तीसरी मुख्य व ध्यातव्य बात यह है कि यदि अनुभाग की जघन्य उदय रूप अवस्था को यदि अनुदय माना एवं कहा जाता तो :—

"संसार में मिथ्यात्व का जघन्य अनुभाग सत्व (सत्कर्म) सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही होता है ।" ऐसा कहा गया है ।

दर्शनमोह की क्षपणा के लिये, उद्यत वेदकसम्यक्त्वी के योग्य काल में जो तत्प्रायोग्य अल्पतम अनुभाग होता है, उसे भी आगम में जघन्यता नहीं बतायी । अपितु सूक्ष्मनिगोद अपर्याप्त के ही मिथ्यात्व का सर्वजघन्य अनुभागसत्व का स्वामित्व बताया (तो क्या जघन्य अनुभाग सत्त्व होने मात्र से किसी भी कर्म–सिद्धान्त के ग्रन्थ में उक्त सूक्ष्म-निगोद-अपर्याप्त को अमिथ्यात्वी कहा है क्या ? यदि नहीं । तो फिर आगमकार जघन्य अनुभाग युक्त अनन्तानुबन्धी के सत्त्व के स्वामीजीव केयदि जघन्य भी उदय होता तो अवश्य ही उसे जघन्य उदय वाला कहते; "अनुदय" वाला नहीं । ऐसे कई उदाहरण और भी हैं देखिए —ज. ध. पु. ५, पृ. १५, ३० तथा पृ. २५६, गो. क. गा. १७० । ध. पु. १५ पृ. १८४, २६६, ध. पु. ८पृ. २७, आदि ।

४. दसवें गुणस्थान के चरम समय में जघन्य अनुभाग उदय के कारण उसको अनुदय कहते या मानते तो चरम समय की अपेक्षा वहाँ एक मात्र योग प्रत्यय ही रहता। इस तरह दसवें गुणस्थान में उत्कृष्ट दो प्रत्यय (संज्वलन लोभ और योग) दसवें गुणस्थान के प्रथमादि द्विचरम समय तक की अपेक्षा) तथा जघन्यतः (सूक्ष्मसाम्पराय के चरम समय की अपेक्षा) एक प्रत्यय (मात्र योग रूप); ऐसे दो स्थान (१;२ प्रत्यय रूप) बन जाते । परन्तु कर्म-शास्त्रों में दसमे गुणस्थान में सर्वत्र जघन्यादि भेद बिना दो प्रत्ययों का एक ही स्थान बताया है । (गो. क. पृ. ७२१ आर्यिका आदिमति जी सं. रतनचन्द मुख्तार; ध. पु. ८ पृ. २७ अभिनव संस्करण, प्राकृत पंचसंग्रह । शतक गा. २०३ टीका पृ. १६७ । संस्कृत पंचसंग्रह ४ (६८–६६ आदि ।

५. सव्वमंदाणुभागं लोभसंजलणस्स अणुभागसंतकम्मं ————

————अणंताणुबंधिमाण जहण्णाणुभागोअणंतगुणो ————(ज. ध. पु. ५, पृ. २५६ से २६४)

अर्थ :—संज्वलन लोभ का जघन्य अनुभागसत्त्व (जो कि सूक्ष्म साम्पराय–चरमसमयवर्ती के होता है) सबसे मंद अनुभाग वाला है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उससेअनन्तानुबंधी चार कषायों का जघन्य अनुभाग सत्त्व (जो कि प्रथम समय संयुक्त मिथ्यात्वी के सत्त्व में प्राप्त होता है) अनन्तागुणा है।

(यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णिसूत्र) इस प्रकार चरम समयी सूक्ष्मसाम्पराय के उदय को स्पष्टतः उदय कहने वाले आचार्य उससे अनन्तगुणे अनुभाग-अविभाग-प्रतिच्छेदों युक्त अनुभाग (अनन्तानुबन्धी के जघन्य अनुभाग) रूप उदय को आचार्य कैसे उदयनहीं कहेंगे ? अपितु अवश्य कहेंगे। परन्तु प्रथम आवलि कालवर्ती संयुक्त मिथ्यात्वी के अनन्तानुबंधी उदित है ही नही, इसलिये आचार्यजी ने अनुदय कहा है।

४७ मान्य पं. भुवनेन्द्र कुमारजी शास्त्री बांदरी (सागर)।

१. तीव्र कषाय होने का कारण "तीर्थंकरादि की आसादना लक्षण मिथ्यात्व ही माना गया है। यदि कोई तीर्थंकर प्रकृति की आसादना लक्षण मिथ्यात्वरूप नहीं परिणमें तो तीव्र कषाय नहीं हो सकती।"

२. कर्म से संबंध कराने में मिथ्यात्व प्रमुख कारण है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्यायें हैं। जो जीव को कर्मों से लिप्त कराती हैं वह लेश्या है। प्रमाण– का लेस्सा णाम ? जीव-कम्माणं ससिलेसणयरी, मिच्छत्तासंयम–कषाय-जोगात्ति भणिदं होदि। ध. पु. ८. पृ. ३५६।

३. अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र को घातती है। यहाँ सम्यक्त्व को भी घातती है, यह अनन्तानुबन्धी को मिथ्यात्व के साथ रहने से बन्ध के काल की प्रत्यासत्ति देखकरऐसा उपचार से कह दिया जाता है कि, अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व को घातती है। वास्तव में तो वह चारित्रमोहनीय की प्रकृति होने से चारित्र को ही घातती है।

४. ध. पु. १, पृ. १७० में तो–"तस्यचारित्र प्रतिबन्धकत्वात्" अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र का प्रतिबन्धक है, आगम में ऐसा भी तो कथन है। मुख्य रूप से अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र का ही घातकरती है, गौण रूप से चारित्र और सम्यक्त्व इन दोनों की प्रतिबन्धक मानी जाती है, फिर भी परमागम में मुख्य नय की अपेक्षा इस तरह का उपदेश नहीं दिया गया है।

४८ स्व. मान्य पं. कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री :-

मिथ्यात्व को कर्म बन्ध रूप कार्य में अकिंचित्कर कहना आगम के विरुद्ध है।

१. संसार में मिथ्यात्व का और मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का महत्त्व सर्वागमसम्मत है, यदि मिथ्यात्व बन्ध में अकिंचित्कर है तो मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व भी अकिंचित्कर ठहरता है, तब आचार्य समन्तभद्र का यह कथन कि तीनों कालों और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी कोई नहीं है, जिसका समर्थन चारों अनुयोगों के शास्त्र एक मत से करते हैं वह मिथ्या ठहरता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. आठ कर्मों में मोहनीय की प्रधानता है, और मोहनीय के दो भेदों में दर्शनमोहनीय की प्रधानता है। दर्शनमोहनीय का एक ही भेद है—मिथ्यात्व। अतः प्रकारान्तर से मोहनीय का समस्त महत्व मिथ्यात्व को ही प्राप्त हुआ है। जब तक उसका सतत उदय विद्यमान है, तब तक संसार अनन्त है। इसी से मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व को अनन्त कहा है, उस अनन्त मिथ्यात्व के साथ बंधने वाली कषाय इसी से अनन्तानुबन्धी कहलाती है। उसके (अनन्तानुबन्धी)के कारण मिथ्यात्व अनन्त नहीं है, किन्तु अनंत मिथ्यात्व के कारण वह कषाय अनन्तानुबन्धी है।

३. तीन आयुओं को छोड़कर शेष सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध उत्कृष्ट संक्लेष सेकहा है। तथा आहारकद्विक, तीर्थंकर और देवायु को छोडकर सब उत्कृष्ट स्थितियों का बन्धक मिथ्यादृष्टि को कहा है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व भाव ही तीव्र संक्लेष का कारण होता है।

४. दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के आस्त्रव के कारण भिन्न-भिन्न कहे हैं। कषाय के उदयसे हुआ तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्त्रव का कारण है, जबकि केवली, श्रुत, संघ आदि का अवर्णवाद दर्शनमोह के आस्त्रव का कारण है, अर्थात् कषाय के उदय से हुए तीव्र परिणाम से भी मिथ्यात्व के उदय से हुआ परिणाम भयानक है।

५. तत्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में कर्मों के आस्त्रव के कारणों का वर्णन करते हुए अन्तिमसूत्र की व्याख्या में कहा है कि, यह कथन अनुभाग विशेष की दृष्टि से है—इसी सन्दर्भ में लिखा है कि अतः मिथ्यात्व को स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का हेतु न मानना उचित नहीं है। यदि ऐसा होता तो मिथ्यादृष्टि को ही उत्कृष्ट स्थिति का बन्धक न कहा गया होता।

६. आज तोचारित्र धारण पर तो जोर दिया जाता है किन्तु सम्यग्यदृष्टि बनने की चर्चा भी नहीं की जाती है मानों जैन कुल में जन्म लेने से ही सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, जबकि आगम चारित्र धारण करने से पहले सम्यक्त्व प्राप्त करने पर ही जोर देता है। क्योंकि सम्यक्त्व विहीन चारित्र, चारित्र नहीं है और न चारित्र धारण कर लेने से ही सम्यक्त्व हो जाता है, दोनो की प्रक्रिया ही भिन्न है। आगम तो चारित्र भ्रष्ट को भ्रष्ट नही कहता, श्रद्धान भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहता है। आज जो चारित्र धारियों की विसंगतियाँ सुनने में आती है, उनका मूल कारण सम्यक्त्व का अभाव ही है। सम्यग्दृष्टि चारित्र धारण कर किसी प्रकार की लोकेषणा के चक्क र में नहीं पड़ सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि में संसार, शरीर और भोगों का यथार्थ स्वरूप खचित होता है। अतः कषायभाव से मिथ्यात्व भाव भयानक है।

४६ मान्य पं. श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री :-

प्रथम बात :—मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व, नपुंसकवेद आदि जिन १६ प्रकृतियों का नियम से बन्ध करता है उनके बन्ध में मिथ्यात्व के उदय से होने वाला मिथ्यात्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणाम ही कारण है। दूसरी बात-दर्शनमोह सब से बलवान है। उसके रहते हुए मोक्षमार्ग का द्वार ही बन्द रहता है।

५० पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री, ललितपुर :-

मिथ्यात्व ही सात व्यसनों में सबसे बड़ा पाप है। मिथ्यात्व को बन्ध का कारण नहीं मानने पर यह कथन कैसे बनेगा। यदि कषाय ही बन्ध का कारण है और मिथ्यादर्शनादिक बन्ध के कारण नहीं हों तो सर्वार्थसिद्धि में उक्त सूत्र (४-२) की व्याख्याकरते हुए यह वचन कैसे बनेगा कि "मिथ्यात्व आदि के आवेश-वश आद्रीकृत आत्मा के सब ओर से योग विशेष के कारण उन सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभाव को प्राप्त हुए पुद्गलों का उपश्लेष होना बन्ध है।" यतः सर्वार्थसिद्धि जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ में यह वचन उपलब्ध होता है। इसलिये बन्ध के प्रकरण में मिथ्यात्व को अकिंचित्कर नहीं ठहराया जा सकता। इसलिये मिथ्यात्व को सामान्य प्रत्यय के समान विशेष प्रत्यय मानना ही योग्य है[२१५]।

५१ ब्र. प्यारेलालजी सहारनपुर :-

अपने एक लेख में ब्र. जी ने मिथ्यात्व को कषाय से कथंचित भिन्न और कथंचित अभिन्न सिद्ध किया है।

५२ मान्य पं. पद्मचन्दजी शास्त्री संपादक 'अनेकान्त', दिल्ली।

१. एक सज्जन बोले -पंडितजी! "मिथ्यात्व किंचित्कर है या अकिंचित्कर" इसे आप क्या जाने? हमने कहा -आपका कहना ठीक है। मतलब करणानुयोग के ज्ञाता भी इस विषय के प्रतिपादन में अंकिचित्कर और विपरीत श्रद्धा में है, तो हमारी क्या विसात? पर इससे द्रव्यानुयोग को तो झूठा नहीं माना जा सकता, जब द्रव्य ही न होगा तब करण होगा किसमें? मूल तो द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यानुयोग ही है, जो द्रव्यों के गुणस्थान आदि की पूरी जानकारी देता है।

२. "मिथ्यात्व अकिंचित्कर" के बहाने सम्यग्दर्शन की महिमा को लुप्तकर दिया।

३. लोगों में मिथ्यात्व के विषय का दुष्प्रचार अवश्य हुआ है। दूसरी बात, मिथ्यात्व को बन्ध में अकिंचित्कर मानने से पद्मावती आदि रागी देवी देवताओं की महिमा पूजा को बढ़ावा मिलेगा। लोग कहेंगे -जब मिथ्यात्व बंध का कारण ही नहीं है, तो हम

---

२१५. मिथ्यादर्शनाद्यवेशादाद्रीकृतस्यात्मनः सर्वता योगविशेषत्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्त प्रदेशानां पुदगलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। स. सि. अ. ८ सू. २ टी. पृ. २६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्यों इस मिथ्यात्व से रूकें ? हम तो इन्हें मात्र सांसारिक इष्ट-सिद्धि के लिये पूजते हैं आदि।

४. अज्ञानान्मोहिनो बन्धो न ज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्चमोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा॥ आ. मी. ९८

मोह विशिष्ट व्यक्ति के अज्ञानसे बन्ध होता है। मोहरहित व्यक्ति के ज्ञान से बन्ध नहीं होता है। मोह रहित आत्मज्ञान से मोक्षहोता है। मोही के ज्ञान से बन्ध होता है। अतःयह बात प्रमाणित होती है, कि बन्ध का कारण मोहयुक्त अज्ञान है।

५. श्रीविद्यानन्दि स्वामी अष्टसहस्री पृ. २६७ में कहते हैं कि–मोह विशिष्ट अज्ञान में संक्षेप से मिथ्यादर्शन आदि का संग्रह किया गया है। इष्ट, अनिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बन्ध का हेतु "कषायैकार्थ समवायी" अर्थात् अज्ञान के अविनाभावी मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, तथा योग को कहा गया है। मोह और अज्ञान में मिथ्यात्व का समावेश हो जाता है।

उक्त प्रसंग को अष्टसहस्री विवरणम दशम् परिच्छेद पृ. ३३५ पर इस प्रकार कहा गया है –

"नचेवं अज्ञानहेतुत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादि हेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरूद्धत दूति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानाम कषायैकार्थ-सम्वाय्यज्ञानाविनाभाविनामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्धहेतुत्व- समर्थनात-मिथ्यादर्शनादीनामपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुद्धयामहे। ततो मोहिन एवाज्ञाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम्।"

पाठक देखें –जहाँ अज्ञान को बन्ध का कारण कहा, वहाँ उस अज्ञान में मोह को ही कारण माना और मोह वह है जो मोहित करे, भुलाए, अज्ञानी बनाए। ऐसा मोह मुख्यतः दर्शनमोह (मिथ्यात्व) ही है। चारित्रमोह तो श्रद्धान में बाधक न होकर मात्र चारित्र घातक है, और श्रद्धान व चारित्र में महद अन्तर है। यह पाठक सोचें कि दर्शन और चारित्र में कौन किसका साधक है ? कौन पहिले और कौन पीछे है ? क्या यह ठीक है कि दर्शनमोह के बाद के क्रम में आने वाला चारित्रमोह (अनन्तानुबन्धी) दर्शनमोह का कारण है। आश्चर्य !

६. क्या कभी यह भी सोचा कि यदि मिथ्यादर्शन बन्ध में कारण न होगा तो उसका विरोधीभाव –सम्यग्दर्शन भी मोक्ष में कारण न होगा। और ऐसे में (ज्ञानचारित्रेमोक्षमार्गः) सूत्र रचना पड़ेगा। सम्यक शब्द तो दर्शन का विशेषण है, वह भी न हो सकेगा और तब सारा का सारा दिगम्बर सिद्धान्त ही लुप्त हो जायेगा। भला यह भी कैसे सम्भव है कि हम सम्यकचारित्र में तो सम्यग्यदर्शन को अनिवार्य कारण माने और मिथ्याचारित्र में मिथ्यादर्शन को कारण न माने। अनन्तानुबन्धी (जो स्वयं चारित्रमोहनीय की प्रकृति ही है) को प्रकारान्तर से (मिथ्यात्वी उत्पादक मान लेने के कारण) मिथ्याचारित्र के उत्पादन का मूलक कहें ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम नहीं चाहते कि पूर्वाचार्य की 'तत्र भाववन्धः क्रोधाद्यांत्मकः, तस्यहेतुमिथ्यादर्शनम्' घोषणा को अपने तर्कों की कसौटी पर झूठलाया जाये और सबके प्रति जनता में भ्रम पैदा होने जैसा कोई कदम उठाया जाये। "मिथ्यात्व को कर्मबन्ध में अकिंचित्कर कहना एक प्रकार से मिथ्यात्व का ही प्रचार करना है।"

५३. श्री प्यारेलालजी बड़जात्या :-

मिथ्यात्व भी चारित्र का घात करनेवाली कषाय है, अतः मिथ्यात्व बन्ध का कारण है, वह अकिंचित्कर नहीं। प्रवचनसार गाथा १३ और उसकी टीका को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर कहा है कि शुद्धात्मलाभ के लुटेरे मोह के स्वभाव और उसकी भूमिका का दिग्दर्शन् नहीं करते।

५४ आचार्य श्री वीरसागरजी के शिष्य मुनि श्री श्रुतसागरजी :-

वे लिखते हैं कि मिथ्यात्व गुणस्थान में नियम से जिन १६ प्रकृतियों का बन्ध होता है उनके बन्ध में मिथ्यात्व निमित्त है, वह अकिंचित्कर नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व न हो तो उन १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होगा। साथ ही उसकी (मिथ्यात्वकी) सामर्थ्य की प्रधानता अनन्तानुबंधी चार को लाने की है। अनन्तानुबंधी के उदय में वह सामर्थ्य नहीं कि मिथ्यात्व को ला सके। इस अपेक्षा से अनन्तानुबंधी को कथंचित् अकिंचित्कर कह सकते हैं, मिथ्यात्व को नहीं।

५५ चूलिका

अकिं. पु. पृ. ३, "मिथ्यात्व कैसे आता है? इसी में गोम्मटसार गाथा ३. "मोहजोगभवा" यह कहा गया है, अतः गुणस्थानों को मोह और योगजन्य कहा जाता है।" तथा यह भी कहा है कि "प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शन मोह की मुख्यता है– आदि।"

अकिंचित्कर पु. पृ. ४, पर "आस्त्रवबन्ध की व्यवस्था सभी पूर्वाचार्यों ने कषाय और योग के द्वारा ही मानी है।"

समाधान :–(१) जबकि अकिं. पु. के पृ. ३ पर स्वयं गुणस्थानों को मोह और योगजन्य स्वीकार कर लिया है। परन्तु पृष्ठ पलटते ही स्वयं भी पलट गये मोह शब्द का अर्थ पलटकर मात्र कषाय कर दिया जबकि जीवकाण्ड में "मोहयोगभवा" कहिए– दर्शन–चारित्र–मोह वा मन, वचन, काययोग किया है। यदि मोह का अर्थ कषाय ही इष्ट होता तो यह कैसे कहा गया कि "प्रथम चार गुणस्थानों में दर्शनमोह की मुख्यता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है ?" इस कथन से मालूम होता है कि आचार्य नेमीचन्द जी को मोह शब्द से दोनों मोहनीय लेना इष्ट रहा है।

तथा अपनीमान्यताकी पुष्टि में सभी आचार्यों को समेट लेना तो योग्य नहीं है। आचार्यों ने तो नय विवक्षाओं कोलगाकर कषाय और योग को बंध में कारण कहा है। जिसे प्रसंगों पर खोल दिया गया है।

(२) आचार्यों ने लिखा है कि १६ प्रकृतियों के बंध का कारण मिथ्यात्व है।

२५ प्रकृतियों के बंध का कारण अनन्तानुबंधी है।

१० प्रकृतियों के बंध का कारण अप्रत्याख्यानावरण है।

४ प्रकृतियों के बंध का कारण प्रत्याख्यानावरण है।

६ प्रकृतियों के बंध का कारण प्रमाद है।

५८ प्रकृतियों के बंध का कारण संज्वलन है।

१ प्रकृतियों के बंध का कारण योग है।

१६+२५+१०+४+६+५८+१ = १२० बंध योग्य प्रकृतियाँ हैं, जब सबके कारण मुख्य रूप से पृथक–पृथक हैं, तब ये गुंजाइश ही कहाँ है कि किसी का कारण कोई अन्य को बतलाया जाये। तथा सामान्य रूप से जिन गुणस्थानों के जो–जो प्रत्यय हैं वे सभी कारण हैं।

(३) जब अकिंचित्कर पुस्तक स्वरूपाचरणचारित्र को चौथेगुणस्थान में मानती ही नहीं तब ऐसी स्थिति में वह अनन्तानुबंधी कषाय किस चारित्र को घातेगी ? क्योंकि अनन्तानुबन्धी का उदय तीसरे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में तो है ही नहीं तो अन्य किसी भी चारित्र की घातक अनन्तानुबंधी है यह तो शायद अकिंचित्कर पुस्तक भी नहीं स्वीकारती होगी। हमारा तो कोई आग्रह नहीं, आप चाहे स्वरूपाचरणचारित्र कहो या सम्यक्त्वाचरण चारित्र। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, निर्जरासार आदि ग्रन्थों में स्वरूपाचरणचारित्र कई बार कहा है–दोनों एकार्थवाची है। हम तो मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के अनुदय में चौथे गुणस्थान में जो होता है, उसे ही स्वरूपाचरणचारित्र या सम्यक्त्वाचरण चारित्र मानते हैं।

(१) अकिं. पु. पृ. ७, "इसे ईर्यापथिकास्त्रव कहा जाता है" ध. पु. १३ में, ईर्या=किंचित, पथिक=योग, आस्त्रव=आस्त्रव, योग के निमित्त से जो किंचित आस्त्रव होता है उसे ईर्यापथिकास्त्रव कहते हैं।

(२) "सातावेदनीय का बन्ध क्या बिना स्थिति अनुभाग के होता है, योग के द्वारा जिस कर्म में प्रकृति पड़ी तो उसमें अनुभाग भी होगा–स्थिति बन्ध भी अवश्यम्भावी है।"

पृ. ८ पर लिखा है, "इन गुणस्थानों की सारी व्यवस्था योग पर निर्भर होती है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—इन गुणस्थानों में अन्य प्रत्ययों का अभाव होने का कोई उपाय ही नहीं रहा, अन्यथा तो अकिंचित्कर पुस्तक वहाँ पर भी स्थिति अनुभाग का कारण कषाय को ही कहती।

इससे ये सिद्ध हुआ कि इन गुणस्थानों में स्थिति-अनुभाग का हेतु योग ही माना है, जबकि अकिंचित्कर पुस्तक स्वयं योगसे प्रकृति-प्रदेश बंध की अभी तक घोषणा करती आयी है, फिर भी जैसे यहाँ इन गुणस्थानों में चारों प्रकार का बंध योग से मान लिया है, वैसे ही मिथ्यात्व गुणस्थान में भी स्थिति-अनुभाग बंध का हेतु मिथ्यात्व को मानने में अकिंचित्कर पुस्तक को क्यों आपत्ति आ रही है ? यह तो वही जाने। मूलाचार उतरार्ध गा. ६६८ एवं पंचास्तिकाय गा. १४८ की जयसेनाचार्य कृत टीका में स्पष्ट ही मोह अर्थात् दर्शनमोह (मिथ्यात्व) को भी स्थिति-अनुभाग का हेतु हम पहले कह ही आये हैं।

अकिं पु. पृ. १३-१४ में, "मैं पूछना चाहूँगा कि, क्या दर्शनमोहनीय के उदय में अर्थात् मिथ्यात्व केउदय में प्रत्येक जीव को व प्रत्येक समय सत्तर कोटाकोटि सागर की स्थिति नियम से पड़ती है ? यदि हाँ, तो एकेन्द्रिय में भी उत्कृष्ट स्थिति के बन्धका प्रसंग होगा, क्योंकि वहाँ उसका उदय हमेशा ही रहता है। लेकिन ऐसा मानना इष्ट नहीं है।"

समाधान :—मैं भी पूछँना चाहूँगा कि, क्या चारित्रमोहनीय के उदय में अर्थात् अनन्तानुबन्धी के उदय में प्रत्येक जीव को व प्रत्येक समय चालीस कोटाकोटि सागर की स्थिति नियम से पड़ती है ? यदि हाँ, तो एकेन्द्रिय में भी उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध का प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि वहाँ उसका उदय हमेशा ही रहता है। लेकिन ऐसा मानना इष्ट नहीं है। अकिंचित्कर पुस्तक ने तो एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का निषेध किया। लेकिन मैं पूंछता हूँ कि, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिस समय उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है, क्या दूसरे समय में भी उतना ही उत्कृष्ट स्थिति का बंध कर सकता है ? यदि नहीं, तो फिर मिथ्यात्व के संबंध में की गयी शंका कैसे योग्य होगी ?

अकिं. पु. पृ. २३,"प्रायोग्यलब्धि केप्रथम समय से लेकर क्रम-क्रम से चौंतीस प्रकृतियों का बन्धापसरण करता है।"

समाधान :—चौंतीस बंधापसरण में ४१ प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति करता है, न कि चौंतीस प्रकृतियों का बंधापसरण करता है।

अकिं पु. पृ. २६, " कि विसंयोजना में विसंयोजित किया गया द्रव्य अपना अध्वान, बंधोदय की सीमा व काल प्राप्त होते ही पुनः संयोजित हो जाता है। जबकि क्षय होने पर यह संभव नहीं है।"

समाधान :—(१) यदि कोई क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि विसंयोजना के बाद क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर ले तब फिर ये परिभाषा कैसे घटित होगी ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) विसंयोजना और क्षय में जो अन्तर आगम में बतलाया गया है उसे ही हम भी मानते। लेकिन क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तो अनन्तानुबंधी की विसंयोजना ही होती है, और वहाँ तो उसे ही क्षय माना है। क्योंकि चारित्रमोह के सिर्फ एक प्रकृति सूक्ष्म लोभ ही स्वमुख से नष्ट होती है, बाकी तो अनन्तानुबंधी विसंयोजित होने पर नष्ट मानी गई है, शेष प्रकृतियाँ स्वजाति अन्य प्रकृतियों में संक्रमित होकर ही नष्ट होती है।

अकिं पु. पृ. २७, "अर्थात् अतत्व श्रद्धान या सासादन परिणाम के कारण विसंयोजित अनंतानुबन्धी ही संयोजित होकर उदयगत हो जाती है।"

समाधान :– (१) सासादन परिणाम के कारण अनन्तानुबंधी संयोजित होकर उदयगत हो जाती है, ये तो दूसरे गुणस्थान के लिए नियम हुआ।

(२) अकिंचित्कर पुस्तक ने लिखा है कि मिथ्यात्व का काम अतत्वश्रद्धान कराना है, और अतत्व श्रद्धान से अनन्तानुबंधी संयोजित होती है, षटखण्डागम के अनुसार ये बात स्वयमेव सिद्ध हो गयी कि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व के कारण ही अनन्तानुबंधी का बंध होता है।

(३) अब रही उदय की बात तो आचार्यों के इस कथन को झूठलाया तो नहीं जा कि विसंयोजित अनन्तानुबंधी वाला जीव यदि सीधा मिथ्यात्व में आता है तो आवलिकाल तक उसका एक परमाणु भी जब उदयावलि में नहीं है तो उदय कहाँ से होगा ? अर्थात् उदय नहीं होता। दूसरे गुणस्थान में प्रथम समय से बंध-उदय माना है तो कषायपाहुड के अनुसार यह कथन लागू पड़ जाता है। इसी २७ पृ. पर जो ६७ नं. टिप्पण है वह तो सासादन गुणस्थान के लिए दी है, उसे प्रथम गुणस्थान में भी लगा लेना उचित नहीं है।

अकिं. पु. पृ. ३०, "संयोजना होने पर अनन्तानुबंधी सत्ता और उदय में तो रहती है लेकिन उदयावलि में क्यों नहीं है ?"

समाधान :–(१) उदयावलि के बिना उदय किसका ? ऐसा आगम में तो नहीं कहा। ये तो अकिंचित्कर पुस्तक की ही आगम के प्रतिकूल आग्रह पूर्ण ध्वनि है।

(२) "यहां पर संक्रमण की होने वाली प्रक्रिया मात्र सत्तागत द्रव्य में ही होती है, न कि उदयावलि या उदय समय में। अतः उदयावलि के द्रव्य को एक आवलि काल तक उदय में रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायों रूप स्तिबुक संक्रमण के द्वारा उदय से एक समय पूर्व ही क्रमशः परिणत कराता हुआ उदयावलि को खाली कर लेता है।"

समाधान :–(१) एक ओर संक्रमण की प्रक्रिया मात्र सत्तागत द्रव्य में ही होती कहना दूसरी ओर उदयावलि के द्रव्य को एक आवलि काल तक उदय में रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषाय रूप से परिणत कर देना ये दोनों कथन तो परस्पर विरुद्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) जब संक्रमित हुआ अनन्तानुबंधी का द्रव्य एक आवलि काल तक उदयावलि में ही नहीं है तब फ़िर "उदयावलि के द्रव्य को उदय में रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायों रूप" किसे परिणमाओगे ?

(३) उदय से एक समय पूर्व ही क्रमशः परिणत कराता हुआ उदयावलि को खाली कर देता है, यह कथन तो नवमें गुणस्थान में जब अंतिम आवलि शेष रहती है वहाँ लागू होता है यहाँ नहीं।

१. अकिं पु. पृ. ३०, पर लिखा है कि "विसंयोजना यानि संक्रमण हो गया" और पृ. ३४ में लिखा है कि "विसंयोजना और संक्रमण एक नहीं है।" ये कथन तो स्ववचन बाधित हुआ।

२. क्षायिक की प्रक्रिया में ये बात कहना योग्य है, लेकिन अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ३० पर स्वयं विसंयोजना को संक्रमण रूप स्वीकारा है वहाँ ये पृ. ३४ का नियम कैसे घटाओगे ?

३. अध्वान, बन्ध, उदय संबंधी समाधान पृ. २६ के उत्तर में कर आये हैं वहाँ से देखियेगा।

अकिं पु. पृ. ३५ पर संक्रमण और विसंयोजन के संबंध में दिया गया दृष्टांत संबंधीखुलासा-ये सभी भस्में पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं उसी प्रकार संक्रमण एवं विसंयोजन भी पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। और दो पुद्गल द्रव्यों की वर्तमान पर्यायों के बीच अन्योन्याभाव होता है, यह बात अकिं. पु. भूल गयी है ऐसा मालूम पड़ता है।

अकिं. पु. पृ. ३६, "लेकिन किन्हीं ग्रन्थों में विसंयोजना को 'उपशम' शब्द द्वारा भी इंगित किया गया है, वहाँ उपशम में विसंयोजना ही ग्रहण करना चाहिए।"

समाधान :—(१) तब कहीं विसंयोजना को स्वजाति अन्य प्रकृतियों रूप होने से संक्रमण भी कहा गया है, तथा अनन्तानुबन्धी का चारों प्रकार (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग) का अभाव हो जाने की अपेक्षा क्षय भी कहा है, समझता हूँ इसमें अकिं. पुस्तक को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(२) "एक, मिथ्यात्व जीव को सिर्फ सम्यक्त्व होने के लिए बाधक है अर्थात श्रद्धान नहीं होने देता है।" एक तरफ अकिंचित्कर पुस्तक ही लिख आयी है कि मिथ्यात्व अधिकरण कारक होने से कोई कार्य नहीं करता, कर्ता और करण कारक ही कार्य करता है।"तो फिर मिथ्यात्व ने तत्व श्रद्धान न होने रूप कार्य को कैसे किया ?" और जब अतत्व श्रद्धान रूप कार्य हुआ तो सुतराम सिद्ध हो गया कि मिथ्यात्व कर्ताकारक भी है।

अकिं. पु. पृ. ३७, "साथ ही अनन्तानुबंधी की विसंयोजना के बिना दर्शनमोहनीय की क्षपणा, तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं होता।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधान :—(१) यह नियम दर्शनमोहनीय की क्षपणा में तो लागू होता है, परंतु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में एकांत से लागू नहीं होता। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ६५७, ६५८, ६५६ में उपशमश्रेणि के आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान में सत्व के तीन स्थान बतलाये हैं—२८, २४, २१ प्रकृति के सत्व स्थान वाले। इससे ये जाना जाता है कि २८ प्रकृति की सत्ता वाले के बिना विसंयोजना के भी द्वितीयोपशमसम्यक्त्व है। क्षायिकसम्यग्दृष्टि के २१ प्रकृतिक सत्व स्थान होता है और अनन्तानुबंधी कि विसंयोजना वाले के २४ प्रकृतिक सत्व स्थान लेता है।

(२) और यदि दो मत हैं तो उनके मत में दो स्थान ही होंगे २४, २१ प्रकृतिक सत्व वाले, तो फिर दोनों ही मतों से कथन देना चाहिए एक पक्षी नियम नहीं बनाना चाहिए।

अकिं पु. पृ. ४०, ४१, "सासादन गुणस्थान में मिथ्यादर्शन का उदय नहीं है तो वहाँ ज्ञान को मिथ्याज्ञान की संज्ञा दिलाने वाली अनन्तानुबंधी कषाय का उदय ही है।"

समाधान :—(१) कोई जीव चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थान से सीधे तीसरे गुणस्थान में आया वहाँ उसके ज्ञान को अज्ञान (मिथ्याज्ञान) संज्ञा किसने दी ? वहाँ तो अनन्तानुबंधी का उदय नहीं है, फिर भी तीसरे गुणस्थान में होने वाले ज्ञान को मिथ्याज्ञान तो आगम में कहा ही गया है। यदि कोई कहेगा कि सम्यक्त्वमिथ्यात्व प्रकृति का उदय ही मिथ्याज्ञान संज्ञा देता है तो मिथ्यात्व प्रकृति से अनंतगुणा हीन अनुभाग वाली सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति जब मिथ्याज्ञान संज्ञा दिला सकती है, तब फिर उससे अनंतगुणा अधिक अनुभाग वाली मिथ्यात्व प्रकृति का उदय मिथ्याज्ञान संज्ञा क्यों नहीं दिला सकेगा ? अर्थात् मिथ्यात्वकी उत्तरप्रकृति मिथ्याज्ञान संज्ञा दिलाने में समर्थ है, तो मूल प्रकृति मिथ्यात्व भी उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान संज्ञा दिलाता ही है, इसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं है।

(२) ये तो सासादन गुणस्थान में लाना है इस अपेक्षा बात की है लेकिन मात्र अनन्तानुबंधी ही सम्यक्त्व की घातक नहीं है, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व का उदय भी सम्यक्त्व का घातक है।

अकिं. पु. पृ. ४४, "हम पूछना चाहेंगे कि यदि परोदयबन्धी का यही तात्पर्य लिया जाये तो क्या कभी ऐसी भी स्थिति होगी कि सभी कषायों का अनुदय हो और मिथ्यात्व का या अन्य तत्संबंधी प्रकृति का उदय, कषायों के बन्ध करानें में निमित्त बने। लेकिन बन्धुओ ! ऐसी स्थिति होती नही है।"

समाधान :—ऐसा तो कोई भी नहीं मानता जब आगम में ऐसी असंभव बात है ही नहीं तो उसे कौन मानेगा ? कोई भी नहीं। और जब ऐसी स्थिति होती नही है तो फिर जानबूझकर ये कुतर्क अकिंचित्कर पुस्तक ने क्यों उठाया ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हम पूँछना चाहेंगे कि "कषाय मिथ्यात्व की जननी है" तो अनन्तानुबंधी दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियों का बंध क्यों नहीं कराती ? तथा अनुदय को ईषत् उदय अकिंचित्कर पुस्तक कहती है, ऐसी स्थिति में तीसरे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत उपशमसम्यग्दृष्टि २८ प्रकृतिक सत्ता वाले के अनन्तानुबंधी का अनुदय (ईषतुदय) और यथायोग्य अन्य कषायों के उदय में क्या ऐसी क्षमता है कि मिथ्यात्व का बंध कर सके ? अकिं. पुस्तक के अनुसार ईषत् उदय तो उसे ११वें तक भी बन जायेगा तो इन गुणस्थानों में मिथ्यात्व का बंध क्यों नहीं कराती है ? यदि कषाय ही कर्म बांधने में प्रमुख कारण है, तो तीर्थंकर और आहारकद्विक को दूसरे गुणस्थान में क्यों नहीं बाँधती ? ये तो बंध योग्य प्रकृतियाँ है, और अनन्तानुबंधी का उदय सासादन में हमेशा रहता ही है तो उसे इन प्रकृतियों को बांधना चाहिये था।

अकिं. पु. पृ. ५३, "सूक्ष्मलोभ के द्वारा दसवें गुणस्थान में भी १६ प्रकृतियों का बन्ध हुआ करता है।"

समाधान :—उसी प्रकार आगम में ये भी कहा है कि, मिथ्यात्व गुणस्थान में भी अनिवृत्तिकरण में भी सूक्ष्म मिथ्यात्व के द्वारा भी बंध होता है।

अकिं. पु. पृ. ५४, "फिर भी तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होने से बन्ध नहीं रुकता।"

समाधान :—(१) बंध तो क्षायिकभाव वालों के भी नहीं रुकता इस कारण कहीं क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव से बंध होता है ये नहीं कहा जा सकता, धवल पुस्तक १ में क्षायोपशमिक भाव को स्वभाव का अंश होने से मंगल कहा गया है।

(२) "३-४ गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय का अनुदय होने से उस संबंधी प्रकृतियों का बंध नहीं होता। दूसरा, औदियिकभाव बन्ध का कारण है।"

समाधान :—अकिं. पु. पृ. २८ में अनुदय को ईषत उदय स्वीकार किया ही है तब तो अनन्तानुबंधी को वहाँ भी बंध कराना चाहिये था ? दूसरे औदयिक भावों की क्या आवश्यकता है ?

(३) "बन्ध के लिए इनका (मिथ्यात्वादि भावों का) होना अपेक्षित भले ही है लेकिन इनमें श्लेष—चिकनाहट के अभाव में प्रकृति-प्रदेश या स्थिति-अनुभाग रूप किसी भी प्रकार का बन्ध नहीं होता। किसी की उपस्थिति में बन्ध होना और किसी के द्वारा बन्ध होना, इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है।"

समाधान :—"मिथ्यात्वादि भावों का" ऐसा अकिंचित्कर पुस्तक में लिखा है—इससे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि, जैसे मिथ्यात्व भाव मात्र अपेक्षित है वैसे ही आदि शब्द से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये भी मात्र अपेक्षित ही हुए। ऐसी स्थिति में तो कोई भी बंध का कारण नहीं ठहरा, तो फिर संसार कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं होगा। और जब संसार ही नहीं है तो संसार के अभाव पूर्वक होने वाला मोक्ष भी सिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं होगा ? ऐसी स्थिति में सर्व-शून्यता का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा जो कि सर्व ओर से विरुद्ध है।

(४) ये बात ही हम कई बार प्रमाण सहित स्पष्ट कर आये हैं, जब "मिथ्यात्व स्वोदयेण" आगम कह रहा है, और इसमें तृतीया (करणकारक) स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व भी करणकारक है, और "मिथ्यात्वणिमितः" ये कर्ताकारक भी है, तथा कर्ता और करण कारक कार्य करता है, इसलिये मिथ्यात्व बंध करता है यह सुतराम सिद्ध हो गया। तथा मूलाचार उत्तरार्ध गा. ६६८, पंचास्तिकाय गा. १४८ में स्पष्टतः मिथ्यात्व को स्थिति-अनुभाग बंध का हेतु कह रही है, और बंध बिना-चिकनाहट के होगा क्या ? नहीं, चिकनाहट होने से ही होता है। तत्वार्थसूत्र अ. ५, सू. ३६-३७। द्वियाधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौपरिणामिकौ च। जिसमें दो शक्त्यंश अधिक हों ऐसे पुद्गल परमाणु आदि का ही दो गुण हीन वाले पुद्गल परमाणु आदि के साथ बन्ध होता है। स्निग्ध गुणवाले का स्निग्ध गुणवाले के साथ, रूक्ष गुणवाले का रूक्ष गुणवाले के साथ बंध होता है यह नियम है। इस कथन से चिकनाहट के अभाव से बंध का निषेध नहीं हुआ।

अकिं. पु. पृ. ५७. "गति, जाति आदि के भी उदय से होने वाले औदयिक भावों को भी बन्ध का कारण मानने का प्रसंग आ जाएगा।"

समाधान :–(१) यही सिद्धांत अकिंचित्कर पुस्तक मिथ्यात्व पर लागू कर रही है ये उचित नहीं। क्योंकि जिन औदयिक भावों का आगम बंध का कारण नहीं कहता उसे कोई भी बंध का कारण नहीं मानते, और जिन औदयिक भावों को बंध का कारण आगम मानता है, उसे सभी बंध का कारण मानते हैं, और मिथ्यात्वको सर्वागम एक मत से बंध में कारण मानता ही है, और सभी मानते भी हैं। जब हम यह कहें कि सभी औदयिक भाव बंध के कारण हैं तब तो इस बात को विस्तार देना अकिंचित्कर पुस्तक को योग्य भी था, लेकिन हमने तो येकहा ही नहीं। उन्होनें तो मिथ्यात्व भी औदयिक भाव है और वह भी बंध का कारण नहीं है, ये सिद्ध करने के अभिप्राय से ये चर्चा लम्बाई है, परंतु उनकी यह मानता सर्वागम विरूद्ध है। तत्वार्थवृति पृ. ४६६ पर भी यह बात आयी है कि (मिथ्यादर्शन आदि बंध के हेतु हैं और बन्ध सहित आत्मा हेतुमान है)। मिथ्यादर्शन आदि के द्वारा सूक्ष्म अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं का आत्मा के प्रदेशों के साथ जल और दूध की तरह मिल जाना बंध है। केवल संयोग या सम्बन्ध का नाम बन्ध नहीं है।

(२) "जिन जिन मिथ्यांत्वादि के उदय से अज्ञानी जीव ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है उसे द्रव्य प्रत्यय कहा गया है।"

समाधान :–इस कथन से स्पष्ट करणकारक सिद्ध हो जाने से अकिंचित्कर पुस्तक पृ. ५४-५८ का ये कथन कि "किसी के द्वारा बन्ध होना अलग बात है।" यह अपने आप खंडित हो गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) "वल्कि उसके (द्रव्य प्रत्ययके) उदय में मुख्यतया भावप्रत्यय रूप जीव के रागद्वेष आदि विभाव परिणाम ही नवीन कर्म बन्ध में कारण होते है।"

समाधान :—१. जहाँ पर आचार्यों ने भावप्रत्ययों की बात की है वहाँ पर रागद्वेषमोह तीनों ही लिये हैं और यहाँ अपनी मान्यता की पुष्टि के लिये मोह शब्द को छोड़ दिया गया है। ये उचित नहीं है। तथा राग द्वेष से चारित्रमोह और मोह से दर्शनमोह स्पष्ट रूप से आता है। तथा प्रवचनसार गाथा, ६ वपंचास्तिकाय १४८ में ये अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है और उसमें भी जयसेनाचार्य ने किया है। तथा आदि शब्द में तो सब आ ही जाते हैं लेकिन अकिंचित्कर पुस्तक अपने मुख से कहने में संकोच करती है।

अकिं. पु. पृ. ५८, "इसे यदि संक्षेप में कहा जाये तो अंतरंग में भाव प्रत्यय के द्वारा बहिरंग में द्रव्य प्रत्ययों का निमित्त पाकर बन्ध रूप नैमित्तिक कार्य संपन्न होता है।"

समाधान :—आगम तो यह कहता है कि पूर्व के द्रव्य प्रत्ययों के विपाक का निमित्त पाकर वर्तमान में भाव प्रत्यय होते हैं, और वर्तमान के भावप्रत्ययों का निमित्त पाकर नये द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है।

अकिं. पु. पृ. ५६, "आत्मा के जिस चेतन परिणाम से कर्म बंधता है उसे भावबन्ध जानना चाहिए।"

समाधान :—१. उस चेतन परिणाम को अकिंचित्कर पुस्तक ने क्यों नहीं खोला?

२. वे चेतन परिणाम हैं राग द्वेष मोह। इस कथन में भी करणव रक स्पष्ट आ गया।

अकिं. पु. पृ. ६०, १. टिप्पण २०५ में तो कषाय को भी क्रियावती श के में शामिल नहीं किया गया, उसमें ऐसा कोई शब्द ही नहीं है तथा कषाय भी परिणामात्मक होने से मात्रभाव रूप है, कारण कि—इसके उदय से भी मिथ्यादृष्टि जीव में राग, द्वेष की अनुभूति होती है। तथा ४ से ६ वें गुणस्थान तक जो राग, द्वेष का वेदन होता है वह एक अपेक्षा से स्वीकार किया है। टिप्पण २०६ में मात्र पांच प्रकार का मिथ्यात्व है, उसके नाम गिनाये हैं उसमें ये नहीं कहा कि मिथ्यात्व परिणामात्मक होने से मात्र भाव रूप है, इत्यादि।

२. तेरहवेंगुणस्थान में केवली भगवान के सबसे अधिक योग का कंपन होने से सबसे अधिक आस्त्रव बंध होता है, लेकिन स्थिति-अनुभाग की जघन्यता के कारण अभावतुल्य है। और वहाँ कषाय है ही नहीं तो वहाँ योग पर प्रभाव कौन डालता है ? किसके प्रभाव से ऐसा होता है ?

३. "सप्तरंगी इन्द्रधनुषी रचना के समान ही मिथ्यात्व भी जीव की भावात्मक दशा है।"

समाधान :—इस प्रकार की भाषा तो चारों अनुयोगों में कहीं नही है यह तो अकिंचित्कर पुस्तक की आगमविरूद्ध नई भाषा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकिं पु. पृ. ६२, "उस (मिथ्यात्व) से किसी भी प्रकार की क्रियात्मकता नहीं आती।"

समाधान :—१. जहाँ मिथ्यात्व का उदय है वहाँ योग भी है, इससे मिथ्यात्व के उदय से भावरूप परिणाम होता है और योग के निमित्त से क्रिया होती है, इसलिये दोनों बन गये। समयप्राभृत श्लोक ५१ में —कहा है कि —

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ।।५१।।

जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होने वाले का) जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है, यह तीनों वस्तु रूप से भिन्न नहीं है।

कर्ता परिणामि दरव, कर्म रूप परिणाम।
क्रिया पर्याय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम ।।

पर्यायों के बदलने का नाम ही तो क्रिया है, और मिथ्यात्व भी पर्याय है इसलिये पर्यायों का बदलना तो होता ही है, यदि मिथ्यात्व बदलता न होता अर्थात् क्रियात्मकपना न होता तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति किसी भी जीव की न होती? परंतु यह तो आगम को अमान्य है। यदि अकिंचित्कर पुस्तक को मिथ्यात्व में क्रियात्मक है यह मान्य नहीं है तो वह भी मिथ्यात्वी सिद्ध हुई। इसलिये मिथ्यात्व भी सक्रियात्मक होने से बन्ध का कर्ता सिद्ध हुआ।

३. यह मिथ्यात्व द्रव्य के ध्रुवांश रूप होता तो अक्रियमान भी लिया जाता, परंतु मिथ्यात्व स्वयं पर्याय है और पर्याय सक्रिय ही होती है, अक्रिय नहीं।

४. "मिथ्यात्व के उदय में जीव कभी कषायवान नहीं होता।"

समाधान :—१. जहाँ मिथ्यात्व गुणस्थान आधार होगा वहाँ हमेशा जीव कषायवान ही होता है, अर्थात् जहाँ मिथ्यात्व भाव हो उससे वहां अनन्तानुबंधी का बंध निश्चित होता है।

अकिं. पु. पृ. ६३, "कारक का सामान्य अर्थ होता है जो क्रिया को करे वह कारक है।"

समाधान :—जब कारक का अर्थ क्रिया को करे, किया है तो इससे स्वतः सिद्ध हो गया कि अधिकरण भी कारक है और क्रिया करता है। तब फिर अधिकरण कारक कुछ कार्य नहीं करता ये बात कहाँ रही ?

२. "करण कभी कर्त्ता के रूप में उपस्थित नहीं होता।"

समाधान :—भाववाच्य में तो हमेशा ही कर्ता में तृतीया विभक्ति (करण) होती है। नहीं तो भाववाच्य का प्रयोग ही नहीं होगा। फिर अकिंचित्कर पुस्तक का ये सिद्धांत कहाँ रहा ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकिं. पु. पृ. ६५, पर जो करण, उपकरण और अधिकरण की कथनी की गयी है वह मात्र अक्रमिक ज्ञान का परिणाम दिखता।"मिथ्यात्व मात्र अधिकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।"

समाधान :—१. पंचास्तिकाय की ६२ गाथा में विकार के षट्कारक स्पष्ट कहे गये हैं, वहाँ विकार को मात्र अधिकरण कारक नहीं कहा गया है। इससे मालूम पड़ताहै कि, मिथ्यात्व रूप विकार को कर्त्ता, कर्म, करणादि छहों कारक रूप स्वीकार किये गये हैं। तथा "मिथ्यात्व के उदय में" ये भाषा करणकारक का लोप करके अधिकरण कारक के रूप में अपने गलत अभिप्राय की पुष्टि के लिए बनाई गई है।

२. वस्तु स्वातंत्र्य की अपेक्षा देखा जाये तो प्रत्येक पर्याय के षट्कारक स्वयं के स्वयं में स्वतंत्र हैं, उस पर्याय का कर्ता उसका द्रव्य, गुण और पूर्व पर्याय का व्ययभीनहीं, (प्रवचनसार गा. १०२)। तब फिर मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी के बन्ध रूपकार्य केकर्त्ता की बात ही नहीं बन सकती। लेकिन जब दो गुणों की वर्तमान पर्याय में कारणकार्य घटित किये गये हैं. वहाँ मिथ्यात्व कारण और अनन्तानुबंधी कषाय कार्य होता है।

३. "कर्त्ता विभिन्न कारणों की सहायता से कार्य को करता है।" तो फिर वह कर्त्ता कैसे हुआ ? कर्त्ता की परिभाषा ही ये बतलाती है कि मुझे किसी भी कारणों की सहायता की जरूरत नहीं मैं स्वतंत्र रूप से अपने कार्य को करता हूँ।"ध्यान रहे! अधिकरण कभी भी कर्त्ता या करण नहीं हुआ करता।" 'शेषेषष्ठी' इस सूत्र के अनुसार अधिकरण कारक की प्रवृति सभी कारकों में हो जाती है। इसलिये मिथ्यात्व बंध के प्रति किंचित्कर ही हुआ करता है अकिंचित्कर नहीं।

अकिं. पु. पृ. ६६, "एक केनवास पर एक चित्रकार ने चित्र बनाया। चित्र बनाने में वह विभिन्न रंगों एवं ब्रुश की सहायता लेता है, और चित्र को तैयार कर देता है। तो यदि यहाँ कोई यह कहे कि चित्र केनवास ने बनाया, यह उसकी अविज्ञता का ही सूचक हुआ।"

समाधान :—अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥ ॥३७२॥ समयप्राभृत

टीका :—और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि —पर द्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टांतपूर्वक समझाई जा रही है :

मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के ? यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; परन्तु मिट्टी के स्वभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभाव रूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती। इसलिये, कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभाव से उत्पन्न होती है।

जो परद्रव्य ही को चित्रादिक का उत्पन्न करने वाला मानते हैं; वे नय विभाग को नही समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। ये चित्रादिक तो केनवास के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं; पर द्रव्य तो निमित्त मात्र है –ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये आचार्य देवकहतेहैं कि, हम चित्रादि की उत्पति में अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करे ? चित्रादि का उत्पन्न होना तो अपना ही (केनवास का ही) अपराध है। इसलिये मिथ्यात्व चित्रकार और अनन्तानुबंधी चित्रपट सिद्ध हुई।

अकिं पु. पृ. ६८. "प्रकृति के पास परिणमन करने की क्षमता मात्र होने से ही कार्यों की उत्पति नहीं हो जाती। उसमें पुरुषगत रागादि परिणामों का निमित्त आवश्यक होता है।"

समाधान :–प्रकृति के पास परिणमन करने की क्षमता ही कार्य के प्रति नियामक कारण होती है। पुरुषगत मोह रागद्वेषादि परिणाम तो उस कार्य के ज्ञापक कारण हैं। न्यायदीपिका की संस्कृत टीका में कोठिया जी कहते हैं कि "सामग्री जनिका हि कार्यस्य नैकं कारणम्।" तथा कार्य हमेशा पाँचों समवायों की समग्रता में होता है। तथा समयसार ८०-८१ का ये अभिप्राय नहीं है जो अकिंचित्कर में दिया गया है।

२. "ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में मोहनीय कर्म ही मूलभूत कर्म है, और इस मोहनीय में भी कषाय ही सभी कर्मों की जननी है।"

समाधान :– सब कर्मों में मोहनीय मूलभूत कर्म है उसमें भी दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) ही सभी कर्मों की जननी है। यही सभी आचार्यों ने कहा है।

अकिं. पु. पृ. ७०, "जैसे-जैसे कषाय मन्द होती है वैसे वैसे मिथ्यात्व की शक्ति भी क्षीण होती जाती है।"

समाधान :–भगवती आराधना दूसरा शिक्षा अधिकार की १०-११ गा. में।

जं अण्णाणि कम्म, खवेदि भवसय-सहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥१०॥

अर्थ – सम्यग्ज्ञानरहित जो अज्ञानी सो जा कर्मकूं लक्षभव कोटिभव पर्यंत तपश्रृचरणकरि क्षिपावै, ता कर्मकूं सम्यग्ज्ञानी तीन गुप्ति रूप हूवो अंतर्मुहुर्त में क्षिपावे है, नाशकरेहै।

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं अण्णाणियस्स जा सोधो।
तत्तो बहुगुणदरिया, होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥११॥

अर्थ :–अज्ञानी के वेला, तेला या च्यार उपवास तथा पांच उपवास इत्यादि तपकरि जो शुद्धिता होय है, तातैं बहुतगुणी शुद्धिता भोजन करता भी सम्यग्ज्ञानी ताकै होय है। तथा नियमसार गा. १४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ् अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं, आवासय लक्खणं णा हवे ॥१४४॥

अर्थ :–जो संयमी मुनि निश्चितरूप से शुभ भाव से चर्या करता है, वह अन्यवश होता है, इसलिये उसके आवश्यक लक्षण क्रिया नहीं होती है ।

टीकाः–जो निश्चित रूप से जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से विनिर्गत ऐसे परम आचारशास्त्र के क्रम से सदा संयत होते हुए, शुभ उपयोग में आचरणचर्या करते हैं वे व्यवहारिक धर्मध्यान से (ही) परिणत हैं इसी हेतु से उनके चरण और करण प्रधान हैं। वे स्वाध्यायकाल का अवलोकन का प्रत्याख्यान करते हैं । तीनों संध्याओं में भगवान अर्हत परमेश्वर की लाखों स्तुतियों से जिनका मुखकमल मुखरित रहता है अर्थात् तीनों संध्याओं में वे भगवान अर्हत की अनेकप्रकार से स्तुति, वंदना करते है । और तीनों कालों में नियम से पारायणहोते हैं, इस प्रकार से अहोरात्र में भी होने वाली ग्यारह क्रियाओंमें तत्पररहते हैं । पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण के सुनने से उत्पन्न हुए सन्तोष से जिनका धर्मरूपी शरीर रोमांच सेरोमांचितहो जाता है। अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विवित्तशय्यासनऔर कायक्लेश इन नाम वाले छह प्रकार के बाह्यतपों में सदैवउत्साहशील होते हैं । स्वाध्याय, ध्यान तथा शुभाचरण से च्युत होनेपरउनमें पुनः स्थापन स्वरूप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य और व्युत्सर्गइननामवालेछह आभ्यंतर तपों के अनुष्ठान में कुशल बुद्धि वाले हैं, किन्तु वे निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के लिये कारणभूत ऐसे अपनी आत्मा के आश्रित जो आवश्यक क्रिया है, जो कि निश्चय से परमात्मतत्व में विश्रांतिरूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान है उसको नहीं जानते हैं, अतः पर द्रव्य केआधीन होने से वे अन्यवश ऐसे कहे गये हैं । जिनका चित्त तपश्चरण में निरत हैऐसे ये ही अन्यवश हुए तपोधन स्वर्गलोक आदि के क्लेश की परम्परा से शुभोपयोग के फलस्वरूप ऐसे प्रशस्तरागरूपी अंगारों से सिकते हैं ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में मंद कषाय में सोते हुए बिलाव की उपमा दी है । देखने से ऐसा लगता है कि यह सो रहा है लेकिन वह सो नहीं रहा वह तो शिकार की खोज में सावधान बैठा है । यही स्थिति मंद कषाय की भी है । हाँ कषाय की मंदता वह पात्रता है, तत्वनिर्णय करते हैं तब कषाय मंद ही होती है । उस समय जीव आत्मानुभव का प्रयत्न करना चाहे तो कर सकता है ।

ओम शान्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपसंहार

सर्व प्रथम हमने अपनी पुस्तक में सुख का स्वरूप बतला कर इसके अनन्तर मिथ्यात्व का विविध अनुयोग द्वारों के द्वारा विचार कर बन्ध के कारणों का विचार करते हुए उसके कारण पाँच बतलाये हैं। उनके नाम हैं —मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनको समयसार और मूलाचार में आस्त्रव कहा गया है। ऐसा भेद क्यों किया गया है ? उसका समाधान है कि चाहे बन्ध के कारण कहो या आस्त्रव के कारण इसमें कोई भेद नहीं है।

तत्वार्थसूत्र में गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध के कारण कहे गये हैं। पहले ये पाँचों ही द्रव्यार्थिकनय से बन्ध के कारण हैं और पर्यायार्थिकनयों में मुख्य रूप से ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। इसी बात को बतलाते हुए तत्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में एक और दो नम्बर के सूत्र रचे गये हैं। इसी बात को दूसरे सूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में नयों की विवक्षा न कर खोल दिया गया है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यह जैनधर्म है, जिसमें पर्याय सहित द्रव्य को ही कारण और कार्य में परिगणित किया गया है, इसलिये चाहे द्रव्यार्थिकनय का कथन हो और चाहे पर्यायार्थिकनय का कथन हो, दोनों में पर्याय सहित द्रव्य को या द्रव्य सहित पर्याय को ही कारण और कार्य में परिगणित किया गया है। इसलिये ऋजुसूत्रनय के दो भेद करके स्थूल ऋजुसूत्रनय में अनेक पर्यायों के सम्मुचयरूप अन्वय की अपेक्षा द्रव्यपना घटित हो जाता है। न केवल द्रव्य निर्पेक्ष पर्याय ही कारण है और न केवल पर्याय निर्पेक्ष द्रव्य ही कारण है, क्योंकि ये दोनों परस्पर की अपेक्षा किये बिना कारण बन ही नहीं सकते है। यद्यपि वेदनाप्रत्यय अनुयोगद्वार में नय दृष्टि से कारण-कार्य का विचार किया गया है।

आगे अकिंचित्कर पुस्तक में कर्त्ता और कर्म आदि का विचार करते हुए उस पुस्तक में यह कहा गया है कि अधिकरण कारक कभी भी कर्ता और करण कारक नहीं हो सकता है। ऐसा लगता है कि प्रवचनसार की १६ वीं गाथा की टीका में स्वयंभू शब्द के ऊपर अकिंचित्कर पुस्तक की दृष्टि नहीं गई है, इसलिये ऐसा निर्देश किया है, अन्यथा ऐसा निर्देश अकिंचित्कर पुस्तक में देखने को नहीं मिलता, क्योंकि जिस प्रकार सविकल्प निश्चयनय में सम्बोधन सहित छहों कारक घटित किये गये है, उसी प्रकार असद्भूत व्यवहार नय में भी छहों कारक बन जाते हैं।

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥ अन. धर्मा. अ. १

इसकी टीका में 'कर्तृ-कर्म-करणादयः' लिखा है। इससे मालूम पड़ता है कि अकिंचित्कर पुस्तक की इस पर दृष्टि नही गई, अन्यथा उसमें ऐसा एकान्त कथन दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि जो कथन सविकल्प निश्चयनय में बन जाता है वह असद्भूत व्यवहारनय में भी घटित किया जा सकता है। तथा नियमसार गाथा १८ में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म का कर्ता जीव को ही कहा गया है। तथा घट का कर्ता जीव को इसी नय से कहा गया है। नियमसार की गाथा इस प्रकार है :

कत्ता भोक्ताआदा पोग्गल कम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥

यदि कहा जाये कि जो कर्त्ता या करण होता है वह अधिकरण नहीं होता ? ऐसी शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार जो व्यवस्था सविकल्प निश्चयनय में बन जाती है, वही व्यवस्था असद्भूत व्यवहार नय में भी बन जाती है। इसके लिए अनगार धर्मामृत का उदाहरण पर्याप्त है। इसीलिये हमने उसकी टीका के उक्त वचन को भी उद्धृत कर दिया है। इसी बात को द्रव्यसंग्रह में "कर्ता-भोक्ता" अधिकार में स्पष्ट किया गया है। वहाँ लिखा है –

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता व्यवहारो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥ द्र. सं.

इसी बात को समयसार गाथा २४, जयसेनाचार्य टीका में भी लिखा है –

जं कुणदि भावमादा सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो व्यवहारा पोग्गल कम्माण कत्तारं ॥२४॥

अकिंचित्कर पुस्तक में अन्य जो अवान्तर विषय आये हैं उन पर नये शीर्षक बनाकर विचार किया गया है।

बन्ध का विचार सब स्थानों पर दो दृष्टियों से किया जाता है एक द्रव्यार्थिकनय से और दूसरे पर्यायार्थिकनय से। इसीलिये तत्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में प्रथम दो सूत्रों की रचना हुई है। किन्तु अकिंचित्कर पुस्तक के अनुसार पहला सूत्र द्रव्यप्रत्ययों का कथन करनेवाला सूत्र है, और दूसरा भाव प्रत्ययों का कथन करने वाला सूत्र है। यहाँ द्रव्यप्रत्यय का अर्थ द्रव्यार्थिकनय से कथन करने वाला सूत्र किया जाता है, और भावप्रत्यय का अर्थ पर्यायरूप करके पर्यायार्थिकनय से कथन करने वाला सूत्र किया जाता है तो कोई आपत्ति नहीं। परन्तु द्रव्यप्रत्यय का अर्थ पुद्गल बन्ध के कारण पाँच हैं और भावप्रत्यय का अर्थ कर्म उदय से होने वाला भावरूप लिया जाता है तो आपत्ति है, क्योंकि पांचो ही कारण पुद्गलबन्ध के निमित्त ठहरेंगे तो मिथ्यात्व रूप जो भाव होता है वह कारण नहीं बन सकेगा। ऐसी स्थिति में तो एकेन्द्रियादि सभी जीव सम्यग्दृष्टि हो जायेंगे जो कि आगम मान्य नहीं है। इसीलिये हमने जो द्रव्य प्रत्यय और भाव प्रत्यय का अर्थ आचार्यों के अभिप्राय अनुसार किया है वह ही ठीक है। इससे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में भेद बन जाता है और कषाय के बिना मिथ्यात्व ही संसार का कारण विशेष रूप से बन जाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा भी है –

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥२४॥

इस प्रकार अकिंचित्कर पुस्तक के उत्तर स्वरूप यह कथन सम्पूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"सन्दर्भ ग्रन्थ सूची"

क्र. सं.	पुस्तक का नाम	प्रकाशक
१.	अष्टपाहुड	मुनि श्री अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला समिति
२.	समयसार	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टे. अगास पो. बोरिया वाया आणद (गुजरात)
३.	प्रवचनसार	
४.	नियमसार	बीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला
५.	छहढाला	मोहनलाल शास्त्री जवाहरगंज जबलपुर
६.	सर्वार्थसिद्धि	
७.	धवला पुस्तक १२	अमरावती बरार
८.	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	श्रीमद राजचन्द्र आश्रम, अगास
६.	धवल पुस्तक ७	फलटण गल्ली सोलापुर
१०.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	श्री मध्य क्षेत्रीय मुमुक्षु, मण्डल संघ सागर (म. प्र.)
११.	मूलाचार	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन कनाट प्लेस नई दिल्ली
१२.	तत्वार्थसूत्र	शिखरचन्द्र सुरेन्द्रकुमार जैन, मोहनलाल शास्त्री जवाहरगंज जवलपुर
१३.	पंचास्तिकाय	आगास, वाया आणद (गुजरात)
१४.	अनगारधर्मामृत	श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान नरिया वाराणसी
१५.	विषापहारस्तोत्र	
१६.	धवल पुस्तक ८	फलटण गल्ली, सोलापूर
१७.	जयधवला पुस्तक ७	चौरासी, मथुरा
१८.	प्राचीन पंच संग्रह	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१६.	जयधवला पुस्तक १०	
२०.	प्राकृत पंच संग्रह (संस्कृत)	भारतीय ज्ञानपीठ
२१.	धवला पुस्तक १	अमरावती, बरार
२२.	धवला पुस्तक १०	अमरावती, बरार
२३.	गोम्मटसार जीवकाण्ड	स्टेशन अगास, वाया आणंद (गुजरात)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्र. सं.	पुस्तक का नाम	प्रकाशक
२४.	आप्त परीक्षा	
२५.	जय धवल पुस्तक १२	भा. दि. जैन संघ, चौरासी, मथुरा
२६.	पंचाध्यायी पूर्वार्ध	
२७.	कषाय पाहुड सुत्त	वीर शासन संघ, कलकत्ता
२८.	जय धवल पुस्तक ४	भा. दि. जैन संघ, चौरासी मथुरा
२९.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	दिल्ली संस्करण
३०.	तत्वार्थ राज वार्तिक	पन्नालाल जैन, बनारस
३१.	जयधवला पुस्तक ८	भा. दि. जैन चौरासी, मथुरा
३२.	कषाय पाहुड सूत्र	फलटण सातारा
३३.	जीवस्थान चूलिका (धवल पुस्तक ६)	होटगी रोड़, सोलापूर
३४.	जय धवल पुस्तक १३	चौरासी, मथुरा
३५.	महाबंध भाग १	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
३६.	आप्तमीमांसा	
३७.	स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा	परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास
३८.	धवल पुस्तक १५	
३९.	कर्मस्तव	
४०.	दशकरण	
४१.	वृहद द्रव्य संग्रह	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास
४२.	जयधवल पुस्तक २	चौरासी मथुरा
४३.	अष्टसहस्त्री	23, Kalbhat Lane, Bombay
४४.	भगवती आराधना	हीरा बाग पो. गिरगांव बम्बई
४५.	परीक्षा मुख	मोहनलाल शास्त्री जवाहरगंज जबलपुर

5172

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi